

ॐ

परमात्मने नमः

अष्ट प्रवचन

(भाग - 3)

श्री तारणतरण मण्डलाचार्य कृत
ज्ञानसमुच्चयसार आदि ग्रंथों पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के
सम्यक्त्व प्रेरक अमृत-वचन

: गुजराती संकलनकर्ता :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवादक :
श्री ताराचन्द समैया
ललितपुर (मध्यप्रदेश)

: सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक की ओर से

वीर निर्वाण संवत् 2491 में हमारे पूज्यनीय श्रीमंत समाजभूषण सेठ श्री भगवानदासजी (श्रद्धेय दाजी) एवं सेठ श्री शोभालालजी (श्रद्धेय कक्काजी) के अत्यन्त आग्रह से पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कृपा पूर्वक तीसरी बार श्री जिन तारणस्वामी के आध्यात्मिक ग्रन्थों की गाथाओं पर अपने सारगर्भित प्रवचन किये, जिनका गुजराती संकलन स्व० ब्रह्मचारी श्री हरिलालजी ने सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में किया।

पूज्य श्री दाजी एवं कक्का जी ने ब्रह्मचारी श्री हरिलालजी से अनेकों बार उन प्रवचनों का सम्पादन करने हेतु आग्रह किया, परन्तु कार्याधिक्यवश वे उस कार्य को शीघ्र पूरा नहीं कर सके। जब यह कार्य सम्पन्न हुआ, तब श्रद्धेय दाजी एवं कक्काजी शारीरिकरूप से अस्वस्थ रहने लगे। परन्तु उनकी हार्दिक अभिलाषा तीसरे भाग को शीघ्र प्रकाशित कराने की बनी रही। वे प्रयास भी करते रहे। काल परिधि में श्रद्धेय कक्काजी एवं पूज्य गुरुदेव इस नश्वर शरीर को छोड़कर चले गये।

पूज्य दाजी भी अस्वस्थ रहने लगे, उनकी तीव्र उत्कण्ठा तीसरे भाग को अपने सामने ही शीघ्र प्रकाशित करा देने की बनी रही। उन्होंने श्री ताराचन्दजी समैया, ललितपुरवालों से हिन्दी अनुवाद कराया और उसे बड़ी ही एकाग्रतापूर्वक सुना समझा और उस पर विद्वानों से चर्चायें कीं और उसे प्रकाशित कराने का प्रयास किया किन्तु वे अपने जीवनकाल में उसे प्रकाशित नहीं करा पाये। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति करना हम सभी ने अपना कर्तव्य समझा, फलस्वरूप यह अष्टप्रवचन का तीसरा भाग जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे मुमुक्षुओं को किञ्चित् भी अध्यात्म लाभ हुआ तो हम अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे।

सागर (म०प्र०)

गुरुपर्वी ज्येष्ठ कृष्ण 6

वीर निर्वाण संवत् 2515

विनायवन्त्

डालचन्द जैन (सांसद)

मानकचन्द जैन एवं समस्त

बंधुगण (श्रीमन्त परिवार)

अनुवादक की ओर से

विगत 55 वर्षों से मेरा सम्पर्क श्रीमन्त समाजभूषण सेठ श्री भगवानदासजी एवं श्री शोभालालजी से बहुत ही निकट का रहा है। धार्मिक, सामाजिक और व्यवसायिक क्षेत्रों में तो अधिकांश समय उनके साथ ही बीता है, उनमें तीर्थभक्ति, सन्तसेवा, गुरुवाणी को प्रकाशित एवं प्रचारित करने की गहरी अभिरुचि रही है, वे राष्ट्रप्रेम, दानशीलता, उदारता, परदुःख, कातरता, समाज संगठन, लोकप्रियता आदि आदर्श गुणों से परिपूर्ण थे। उनके हृदय में दूसरों के प्रति सम्मान एवं आदर भाव सदैव रहता था और उन्हें भी अपने जीवन में सर्वदा सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती रही। ऐसे धनी मानी श्रेष्ठ पुरुष बिरले ही होते हैं। पारिवारिक स्नेह उनके परिवार की अमूल्य निधि है, जहाँ बड़े सदैव छोटों के आदर के पात्र हैं, वहाँ बड़े सदैव छोटों को स्नेह और सम्मान देते हैं। ऐसे पुरुषों का सान्निध्य एवं प्यार पाकर मैंने अपने को गौरवान्वित अनुभव किया है।

पूज्य सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने श्री जिन तारणस्वामी के 14 ग्रन्थों की गाथाओं में से कुछ पर क्रम से तीन बार आत्मविभोर कर देनेवाले आठ-आठ प्रवचन किये हैं। इन तीनों बार के प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी अनुवाद करने का दायित्व श्रीमन्त सेठ साहब ने मुझे सौंपा था। यद्यपि मैं गुजराती भाषा में पारंगत नहीं था और न ही वह मेरी मातृभाषा थी, भूलें हो जाने की सम्भावना थी, फिर भी उनके आदेश को अस्वीकार नहीं कर सका, उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से हो जो कुछ कर सका आपके समक्ष है।

श्रीमन्त सेठ साहब ने मुझसे अनुवाद लेकर स्वयं बार-बार अध्ययन एवं मनन किया। अधिकारी विद्वानों के द्वारा उसका निरीक्षण करवाया। उनके सन्तुष्ट होने पर उनको प्रकाशित कराया। यद्यपि तीसरे भाग का प्रकाशन कार्य उनके जीवनकाल में पूरा नहीं हो सका, जिसे आकांक्षाओं के अनुरूप उनके सुयोग्य पुत्रों ने प्रकाशित कराया है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, योगेन्द्रदेव प्रभृति महान आध्यात्मवादी आचार्यों की परम्परा में श्री तारणतरण आचार्य ने अपने काल में प्रचलित भाषा एवं शैली में अध्यात्म रस का सार अपनी गाथाओं में भर दिया है तथा स्थान-स्थान पर मिथ्यात्व एवं कुरीतियों के उन्मूलन का उपदेश दिया है।

मैं अल्पज्ञ हूँ, गहन कार्य मुझे सौंपा गया, भूल हो जाना स्वाभाविक है, यदि विज्ञजनों को कहीं कोई भूल या त्रुटि दृष्टिगत हो तो वे मुझे क्षमा करें और अध्यात्म रस के सार को ग्रहण कर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हों, यही विनय है।

विनम्र
ताराचन्द्र समैया, ललितपुर
अनुवादक

[17]

सत्रहवाँ प्रवचन

ॐ जिनवाणी मंगलरूप है,
वह शुद्धात्मा को दर्शाती है,
उसको नमस्कार हो ।

मंगलाचरण

देवदेवनमस्कृतं लोकालोकप्रकासकं ।
त्रिलोकं अर्थ ज्योतिः, उवकारं-च वंदते ॥१॥

श्री तारण तरण श्रावकाचार की यह पहली गाथा है। इस श्रावकाचार ग्रन्थ की रचना श्री तारणस्वामी ने की है। वे लगभग ५०० वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश में हुए थे। वे अध्यात्म दृष्टिवन्त थे। उनके द्वारा रचित 'ज्ञान-समुच्चयसार' तथा 'उपदेश शुद्धसार' ग्रन्थों की अनेकों गाथाओं के ऊपर इसके पूर्व १६ प्रवचन हो चुके हैं। अब इस 'श्रावकाचार' में से कुछ कहते हैं। इसमें श्रावक का धर्म कैसा होता है और श्रावक की दिव्य दृष्टि कैसी होती है, उसका वर्णन है। प्रथम मंगलाचरण में श्री जिनदेव और जिनवाणी ॐ को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि—जो लोक-अलोक के प्रकाशक हैं—ऐसे देवाधिदेव श्री जिनवरस्वामी को नमस्कार हो, तथा तीन लोक के पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये जो ज्योतिस्वरूप है—ऐसी

ॐकाररूप जिनवाणी को नमस्कार हो। 'ॐ' तीर्थकर भगवान की वाणी है, यह लोकालोक की प्रकाशक है और इसमें अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को और उनकी दिव्यवाणी को ज्ञान में लेकर नमस्काररूप मंगल किया है। इसके पश्चात् छठवीं गाथा द्वारा श्री तारणस्वामी ने केवलज्ञान दृष्टि से समस्त विश्व को देखनेवाले श्री महावीर परमात्मा को तथा व्यक्त, प्रसिद्ध होने पर भी अरूपी ऐसे शुद्ध सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है।

नमस्कृत्वा महावीरं, केवलं दृष्टि दृष्टितं
व्यक्तरूपं अरूपं चं, सिद्धं सिद्धं नमाम्यहं ॥६॥

सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतों का निर्देश

देखो! अरूपी सिद्ध भगवन्तों का तथा अरिहन्त भगवन्तों का ऐसा स्वरूप शुद्ध जैनमार्ग के अतिरिक्त कहीं होता नहीं है। श्रावक को शुद्ध जैनमार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्ग की श्रद्धा स्वप्न में भी नहीं होती है।

आगे आठवीं गाथा में शुद्ध रत्नत्रय के साधक निर्ग्रन्थ साधुओं को नमस्कार किया है।

साधओ साधुलोकेन, ग्रन्थ चेल विमुक्तयं
रत्नत्रयं मयं सुद्धं, लोकालोके विलोकितं ॥८॥

— श्री तारण तरण श्रावकाचार

इस प्रकार ज्ञान से जो अलंकृत हैं, ऐसे वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु को नमस्कार कर सम्यग्दृष्टि—श्रावक के आचरण का कथन करते हैं।

प्रथम तो चौथे गुणस्थान में आत्मा की अनुभूतिसहित सम्यग्दर्शन होता है, उसके पश्चात् पाँचवें गुणस्थान में आत्मा की विशेष शुद्धतासहित श्रावक के व्रतादि का आचरण होता है, ऐसा जैनधर्म का क्रम है। अतएव जो अपना हित चाहते हों, वे कुमार्ग को छोड़कर, वीतराग जैनमार्ग के सेवन से आत्मा को पहिचानकर शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और फिर श्रावक के व्रतादिकों का आचरण करें, ऐसा सन्तों का उपदेश है।

‘जैन’ में प्रथम स्थान एवं मोक्षमार्ग में प्रवेश-कब

पहले तो श्रावक के व्रतादि के पूर्व में कैसी शुद्ध दृष्टि होती है, उसको कहते हैं—

सप्त प्रकृति विच्छेदात्, सुद्ध दृष्टिश्च दृष्टते।

श्रावकं अविरतं जैन, संसार दुख परान्मुखं ॥३३॥

— श्री तारण तरण श्रावकाचार

आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा जानकर शुद्ध दृष्टि होना सम्यग्दर्शन हैं, उसमें मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का अभाव है और सम्यग्दर्शनस्वरूप आत्मा दृष्टिगत होता है। देहादि संयोग, रागादि भाव और इन्द्रिय ज्ञान आदि में आत्मबुद्धि छोड़कर शुद्ध दृष्टि से असंयोगी-शुद्ध-पूर्णानन्दमय चैतन्यस्वरूप धर्मी आत्मा अन्तर में दृष्टिगत होता है। ऐसे आत्मा को देखनेवाले जीव जैन हैं। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लिये बिना ‘जैन’ में स्थान नहीं आता है। सम्यग्दर्शन हो जाए, तब से ही ‘जैन’ का पहला स्थान प्रारम्भ होता है—भले ही अभी व्रतादि न हों तो भी जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं, वे मोक्षमार्ग में

प्रवेश पा गये हैं। जो अत्रती-श्रावक *शुद्ध सम्यग्दर्शनस्वरूप अपने आत्मा को देखते हैं। आत्मा को देखनेवाली इस प्रकार की शुद्ध दृष्टि निश्चय सम्यग्दर्शन है, इसमें राग नहीं आता है। चौथे गुणस्थान में इस प्रकार सम्यग्दर्शन होते ही जीव मोक्ष—सन्मुख हुआ और संसार दुःख से पराङ्मुख हुआ। दुःख का कारणरूप मिथ्यात्वादि भाव है, उससे पृथक् होकर भेदज्ञान से चैतन्यस्वरूप के आनन्द का उसने रसास्वादन कर लिया, वहाँ संसार दुःखों से पराङ्मुख हो गया, उसकी परिणति का प्रवाह मोक्षसुख की ओर चल पड़ा।

ऐसी सम्यग्दर्शन की बात जैन शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं

श्री तारणस्वामीजी ने स्थान-स्थान पर सम्यग्दर्शन की महिमा गायी है। सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध परिणाम है, परिणाम कहो या पर्याय कहो, यह नयी प्रगट होती है। ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा में त्रिकाली श्रद्धा नाम का गुण होता है, वह पर में निज रूप का श्रद्धान कर मिथ्यात्वरूप से परिणमन करता था और अब शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धापूर्वक सम्यग्दर्शनरूप परिणमन हुआ; जिससे मिथ्यात्व का अभाव हुआ। इस प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति, मिथ्यात्व का नाश एवं श्रद्धा-गुण की ध्रुवता, इन तीनों में उत्पाद-व्यय-ध्रुव आ गये। मिथ्यात्व का अभाव होने से उसकी उत्पत्ति में निमित्तरूप सात प्रकृतियों का भी अभाव हो गया।

* गुणस्थान के अनुसार तो पंचम गुणस्थान में सभी श्रावक व्रतधारी होते हैं परन्तु सामान्य रूप से सभी जैनों को श्रावक कहा जाता है, इस अपेक्षा से यहाँ 'अत्रती श्रावक' की ऐसी परिभाषा समझें।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ यह पाँच प्रकृतियाँ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के होती हैं, तथा जिसने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर मिथ्यात्व का खण्ड-खण्ड कर दिया हो, ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ऊपर की पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय (अर्थात् मिश्र प्रकृति) एवं सम्यक्-मोहनीय प्रकृति—इन दो प्रकृतियों सहित कुल सात प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा के देखने से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ सातों प्रकृतियों का विच्छेद हो जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हुए यहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्रधानतापूर्वक सातों प्रकृतियों का विच्छेद कहा है।

वैसे क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के तो एक सम्यक्-मोहनीय प्रकृति का ही सूक्ष्म उदय होता है, परन्तु यहाँ उसकी कोई गिनती नहीं, क्योंकि उसमें शुद्ध आत्मा की दृष्टि तो वर्तती ही है, ऐसे जीव के निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा सम्यग्दर्शन श्रावक का प्रथम धर्म है एवं वही सच्चा जैनपन है।

देखो! यह जैनदर्शन की बात! एक-एक जीव में अपना-अपना स्वतन्त्र द्रव्य-गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रुवता; पर्याय में शुद्ध-अशुद्धरूप परिणमन; अशुद्ध परिणमन में कर्म प्रकृतियों का निमित्त; शुद्ध परिणमन होने से उसमें कर्म प्रकृतियों का स्वयमेव अभाव, ऐसी वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान भगवान सर्वज्ञ देव के जिन शासन के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं होता।

मोह को जीतकर जो मोक्ष की ओर उन्मुख हुआ, वह सच्चा जैन है

देखो! यह 'जैन' का स्वरूप! सच्चा जैन कब कहलाये? उसका यह प्रसंग है। जिसके अभी कोई व्रत नहीं, चारित्र नहीं, किन्तु शुद्ध आत्मा की दिव्यदृष्टि वर्तती है, एवं जो वीतराग देव-गुरु का भक्त है, वह प्रथम प्रारम्भिक जैन है, अव्रती होते हुए भी वह धर्मी है, वह मोक्ष का पथिक है। वह स्वभाव सुख के सन्मुख हुआ है और संसार दुःख से विमुख वर्तता है। जिसको सम्यग्दर्शन नहीं, उसको परमार्थ जैनपना नहीं क्योंकि उसने मोह को नहीं जीता।

जो जीते, वह जैन! किसको जीते? मोह को। कौन जीते? स्वभाव-सन्मुख हुआ जीव। बाह्य में जीव का कोई शत्रु नहीं, किन्तु अन्तर में मिथ्यात्व-अज्ञान-राग-द्वेष मोहरूप अपने भाव ही शत्रु हैं, उनको सम्यक्त्वादि शुद्ध भावों से जीतना—नष्ट करना सच्चा जैनपन है। ऐसे जैनत्व का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है।

अन्तर में आत्मा की अचिन्त्य महिमा जानकर उसके सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी करनेवाले जीव ने जहाँ तीन करण के द्वारा मोह का नाश किया, वहाँ उसको ही जिन कहा है। ऐसी दशा के बिना अकेले बाह्य आचरण से जैन की गिनती में नहीं आता। भाई! आत्मज्ञान के बिना यदि तू व्रतादि शुभाचरण करेगा तो उससे पुण्य बन्ध होगा, परन्तु भव दुःख से तो तेरा छुटकारा नहीं होगा। मिथ्यात्व सहित शुभ क्रियाएँ तो मोक्ष से पराङ्मुख हैं और संसार के सन्मुख हैं और राग से परे चैतन्य तत्त्व को देखनेवाला धर्मी जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा मोक्ष के सन्मुख है और संसार से पराङ्मुख है।

धर्मी को आत्मा के सुख का वेदन होता है। संसार की चार गतियों से परे मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद धर्मी जीव ने चख लिया है। इन्द्र के या चक्रवर्ती के भी बाह्य वैभव में वह सुख नहीं, जो अपूर्व सुख चैतन्य के श्रद्धा-ज्ञान में धर्मी को निरन्तर मिलता है।

जैन हुआ—वह जिन के अतिरिक्त अन्य को मानता नहीं है।

सम्यग्दर्शन होते ही धर्मी को सिद्ध के समान अपना शुद्ध आत्मा प्रतीति में—देखने में—श्रद्धा में—ज्ञान में और स्वानुभव में स्पष्ट आ जाता है, उससे उसकी गति-परिणति विभावों से विमुख होकर सिद्धपद के सन्मुख चली, वह मोक्षमार्गी हुआ। पश्चात् जैसे-जैसे शुद्धता और स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे श्रावकधर्म या मुनिधर्म प्रगट होता है। श्रावकपना-मुनिपना तो आत्मा की शुद्धदशा में रहता है, वह कोई बाहर की वस्तु नहीं। जैनधर्म में तीर्थंकरदेव मोक्षमार्ग कैसा कहते हैं, इसका तो ज्ञान न हो और विपरीत मार्ग में जहाँ-तहाँ शीश झुकाता फिरे, ऐसे जीव को तो जैनपना या श्रावकपना होता नहीं है। जैन हुआ, वह जिनवर देव के मार्ग के अतिरिक्त अन्य को स्वप्न में भी नहीं मानता। यदि कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसका विकार या कर्म से कोई सम्बन्ध है ही नहीं, तो यह बात सत्य नहीं। आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध है, किन्तु पर्याय में उसके विकार भी हैं, यह विकार अपनी भूल से हैं और स्वभाव के भान से वह टल सकता है एवं शुद्धता हो सकती है। विकार भाव में अजीव कर्म निमित्त हैं, विकार हटते ही वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त इन सबका बराबर ज्ञान करना चाहिए। इनको जानकर, शुद्ध आत्मा की दृष्टि करनेवाले जीव सम्यग्दृष्टि हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव के नव तत्त्वों की श्रद्धा

जगत में अनन्त आत्मायें स्वयंसिद्ध, बिना किसी के सहारे से हैं। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र, अपने अनन्त गुण-पर्याय सहित है। यदि कोई कहे कि आत्मा की पर्याय नहीं होती, वह तो बाहर से लगी है—तो यह बात मिथ्या है। भाई! पर्याय भी आत्मा का स्वरूप है, वह आत्मा का एक स्वभाव है, सिद्ध में पर्याय है। पर्याय को छोड़ना नहीं है, किन्तु उसमें जो विकार हैं, उसे छोड़ना है। शुद्ध ज्ञान-आनन्दमय निर्विकार पर्याय भी तो आत्मा का स्वरूप है।

- चेतनस्वरूप आत्मा अपने गुण-पर्याय सहित वस्तु, यह जीव-तत्त्व है।
- उसकी पर्याय में मिथ्यात्वादि अशुद्धता, यह पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धतत्त्व है।
- उस अशुद्धता में निमित्तरूप पुद्गल कर्म, यह अजीवतत्त्व है।
- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा अशुद्धता का और तत्सम्बन्धी कर्मों का क्षय आदि होना और शुद्धता का प्रगट होना, यह संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि नव तत्त्वों को स्वीकार करता है। नव तत्त्वों में भूतार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा है, उसकी अनुभूति सम्यग्दर्शन है। नाम से भले ही न आवे किन्तु उसके भावों का जैसा स्वरूप है, वह वैसा ही सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और श्रद्धान में निरन्तर वर्तता है, अजीव के किसी अंश को भी वह जीव नहीं समझता; राग के किसी भी अंश को वह संवर-निर्जरा-मोक्षरूप नहीं मानता, नव

तत्त्वों का भाव जैसा है, वैसा ही वह मानता है, विपरीत नहीं मानता, ऐसा तत्त्वार्थ श्रद्धान प्रत्येक सम्यग्दृष्टि के अवश्य होता है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की कुल १४८ प्रकृतियाँ हैं, उनमें मोहकर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं, उसमें सम्यग्दर्शन को रोकनेवाली या मलिन करनेवाली दर्शनमोह की सात प्रकृतियाँ हैं—यथा-मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया, लोभ तथा सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् मोहनीय प्रकृति। अनादि मिथ्यादृष्टि के तो उनमें से प्रारम्भ की पाँच प्रकृतियाँ होती हैं। अन्य दो प्रकृतियाँ उपशम सम्यग्दर्शन होते समय मिथ्यात्व के तीन खण्ड करने पर होती हैं। आत्मा के विशुद्ध परिणाम से मिथ्यात्व के खण्ड-खण्ड होने पर उसके कितने ही स्कन्ध सम्यक्मिथ्यात्वरूप तथा कितने ही स्कन्ध सम्यक्-मोहनीयप्रकृतिरूप परिणामते हैं। इस प्रकार इन सात प्रकृतियों के क्षय से शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा अपने सहज स्वभाव से रागी-द्वेषी या मोही नहीं है। सहज स्वभाव से तो वह वीतरागी दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप ही है, और वही परमार्थ जीवतत्त्व है, किन्तु वह जीव जहाँ अपने सच्चे स्वभाव को भूलकर अज्ञान से अपने को रागरूप या शरीररूप अनुभव करता है, वहाँ उसमें अजीव-कर्म निमित्त है, उसके सम्बन्ध से जीव की पर्याय में पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धतत्त्वों की उत्पत्ति होती है, ये सभी क्षणिक अशुद्ध भाव हैं और ये संसार के कारण हैं। वह जीव जब अजीव से अत्यन्त भिन्न अपने सहज ज्ञानस्वरूप को अनुभव करता है, तब उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध भाव अर्थात् संवर-निर्जरा मोक्षरूप भाव प्रगट होते

हैं, तब उसका कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी छूट जाता है। जैन दर्शन के अनुसार नव तत्त्वों के ऐसे सच्चे स्वरूप की प्रतीति से सम्यग्दर्शन होता है।

आत्म वस्तु द्रव्य-पर्याय स्वरूप है

आत्मा द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु है, यह भी पूर्वोक्त कथन में आ जाता है। वस्तु को जो अकेला द्रव्यस्वरूप नित्य माने और अनित्य पर्यायरूप न माने, अथवा अकेली पर्यायरूप माने और द्रव्यरूप न माने तो नव तत्त्व या आत्म वस्तु कुछ भी सिद्ध नहीं होती, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता। यदि आत्मा द्रव्यरूप ही हो और पर्यायरूप न हो तो, मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व नहीं हो सकता और यदि आत्मा पर्यायरूप ही हो और द्रव्यरूप नहीं हो तो मिथ्यात्व के नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाएगा; इसलिए द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु जैसी है, वैसी श्रद्धा-ज्ञान में लेना चाहिए।

जीव और अजीव दोनों की क्रियाओं में अत्यन्त भिन्नता है

नव तत्त्व को जानकर सम्यग्दृष्टि जीव अपने चिदानन्दस्वभाव को लक्ष्य में लेता है, उसके मिथ्यात्वादि कर्म प्रकृतियों का अभाव हो जाता है। यहाँ अजीव की क्रिया अजीव में है, वह क्रिया परिणति जीव की कुछ भी नहीं है, जीव ने उसे किया नहीं, जीव से वह पृथक है और सम्यग्दर्शनादि क्रिया परिणति हुई, वह जीव की क्रिया जीव में है, जीव उसका कर्ता है, जीव से वह भिन्न नहीं है, उसे कुछ भी कर्म प्रकृति ने नहीं किया। इस प्रकार जीव और

अजीव दोनों का परिणामन भिन्न, स्वतन्त्र अपने-अपने में है, जीव का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जीव में है, अजीव का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अजीव में है।

देखो, यह वस्तु स्वरूप! सत् वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप में है, उसका उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अपने से अपने में ही है, पर से नहीं। ऐसा सत् वस्तु का ज्ञान होने से भेदज्ञान होता है। इस भाँति वस्तु स्वरूप का भेदज्ञान, वीतरागता का कारण है। वस्तुस्वरूप के ज्ञान बिना राग-द्वेष कभी छूटते नहीं हैं।

अहा! ऐसी बात सर्वज्ञदेव के जैनमार्ग के सिवाय अन्यत्र कहाँ है? जैन मार्ग का दूसरे मिथ्यामत के साथ कोई मेल नहीं है। जैन मार्ग और दूसरे मार्ग को जो समान गिनते हैं, उनमें अज्ञान की तीव्रता है। भाई! जैन मार्ग को जाने बिना तुम्हें जैनपना या श्रावकपना कैसा? जैन मार्ग में जीव-अजीव की जैसी स्वतन्त्रता और पूर्णता बतायी, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं बतायी। तत्त्व के ऐसे वीतरागी स्वरूप को जानकर श्रद्धा से जीव के अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, चैतन्य के अपूर्व सुख का उसको वेदन होता है और वह जीव संसार दुःख से विमुख हो जाता है। इस प्रकार आनन्द की उत्पत्ति और दुःख का नाश सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन होने से सच्चा जैनपन-धर्मीपन मोक्षमार्गीपन प्रारम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन और अव्रतपना दोनों साथ रह सकते हैं

आत्मा के आनन्दस्वभाव का भान होने से चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के अव्रतीपन है, तो भी वहाँ शुद्ध आत्मा की अनुभूति और आनन्द का स्वाद है, इस भाँति उस सम्यग्दृष्टि के

अव्रतरूप औदयिकभाव और सम्यक्त्वरूप औपशमिकादि भाव एक साथ होते हैं, परन्तु दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न है। अव्रत तो बन्ध के कारणरूप काम करता है और सम्यग्दर्शन मोक्ष के कारणरूप काम करता है। इस प्रकार एक साथ होते हुए भी दोनों की भिन्नता समझना चाहिए। उसने शुद्ध आत्मा को जाना है तो भी उसके अभी पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्तिरूप अशुभभाव भी होते हैं, वहाँ व्रत नहीं होने पर भी वह राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व का भान एक क्षण को भी भूलता नहीं है। विषयों में अनुराग होते हुए भी उनसे भिन्न शुद्ध चैतन्य दृष्टि का धर्मी के निरन्तर प्रवर्तन होता है, चैतन्य सुख विषय हीन हैं, उसका रसास्वादन हो जाने पर उसकी विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती है, अर्थात् उसके अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागादि नहीं होते हैं, इसलिए उसके राग को अल्प ही कहा है।

मात्र सम्यग्दर्शन होने से मोक्षमार्ग पूर्णता को प्राप्त नहीं होता

सम्यग्दर्शन हो जाने से समस्त राग उसी समय नहीं हट जाता। यदि सम्यग्दर्शन हो जाने से राग का सर्वथा अभाव हो जाए और मोक्ष हो जाए तो उसके पश्चात् मोक्षमार्ग का या मोक्षमार्ग के उपदेश का भी अभाव हो जाए, अर्थात् तीर्थ की प्रवृत्ति ही न रहे। सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि जीव कुछ काल संसार में रहता है और मोक्षमार्ग की साधना करता है तथा उसका उपदेश देता है, इस प्रकार मोक्षमार्गरूप तीर्थ की प्रवृत्ति है। यद्यपि सम्यग्दर्शन हो जाने पर श्रद्धा में से बहुत राग हट गया, और शुद्ध आत्मा अनुभूति में आ गया, परन्तु अभी चरित्र की पर्याय में अव्रतादि सम्बन्धी राग है,

जिसे हटाना शेष है, जिसका धर्मी को ज्ञान है और वह श्रावकधर्म तथा मुनिधर्म की साधना से उस राग को छोड़, वीतराग होकर केवलज्ञान प्रगट करेगा, उसके पश्चात् मुक्ति होगी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और मोक्षमार्ग का स्वरूप जैसा है, वैसा जानना चाहिए। अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग पूरा नहीं हो जाता, सम्यग्दर्शन होने से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है, परन्तु उसकी पूर्णता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य तीनों की पूर्णता होने पर ही होती है। अहो, जैनधर्म अलौकिक है और उसमें कथित मोक्षमार्ग भी अलौकिक है, यह ऐसा उत्तम मार्ग है, जिसमें राग के अंश मात्र का भी समावेश नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की दो धाराएँ

तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन में से औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक कोई भी हो, तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में शुद्ध आत्मा ही ध्येयरूप है, इससे यह तीनों सम्यग्दर्शन शुद्ध कहे जाते हैं और तीनों सम्यग्दर्शनों को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दृष्टि अव्रती को राग होते हुए भी वीतरागस्वभाव का प्रेम रहता है, उसका रसास्वादन उसने किया है और उसकी भावना वीतराग स्वभाव के प्रेम को रहती है, उसकी दृष्टि राग से और विषयों से पराङ्गमुख है, तथा चैतन्य के सुख के सन्मुख है, वह जीव अल्प काल में संसार का छेदन करके मोक्ष सुख साधना है, अव्रती सम्यग्दृष्टि के आत्मस्वरूप में शंकादि पच्चीस दोष नहीं रहते।

कोई सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तीर्थकर पद का भी अवतार ले, तीन ज्ञानसहित हो या चक्रवर्ती ही हो, उसके सहस्रों रानियाँ आदि पुण्य वैभव हो, किन्तु अन्तर ज्ञानचेतना में उसे किंचित् भी अटकाव नहीं

होता। धर्मी श्रावक की दशा एक अलौकिक होती है। मुनिदशा की तो बात ही क्या! अरे, मिथ्यादृष्टि जीव पंच महाव्रत पालकर नवमें ग्रैवेयक तक गये, किन्तु रागमुक्त आत्मा के स्वाद बिना उन्हें वास्तविक जैनपना नहीं हो सका, कारण कि उन्होंने मिथ्यात्व मोह को जीता नहीं। सम्यग्दर्शन हुआ कि अव्रती सम्यग्दृष्टि भी सच्चा जैन हुआ, उसने मिथ्यात्व-मोह को जीत लिया, मोह को नाश कर वह सम्यग्दर्शन के कारण जैन हुआ (यह लक्ष्य में लें कि नव ग्रैवेयकों में अधिकांश जीव तो सम्यग्दृष्टि ही हैं, मिथ्यादृष्टि जीव तो थोड़े ही हैं, और नव ग्रैवेयक के पश्चात् ऊपर के देवलोक में तो सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।)

सम्यक्त्वी भले ही अव्रती हो, तो भी जितेन्द्रिय है

जहाँ अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के वेदनपूर्वक जीव को सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ वह जीव जितेन्द्रिय हुआ, अव्रती होने पर भी उसको जितेन्द्रिय कहा है।

**कर इन्द्रियजय ज्ञानस्वभाव रु अधिक जाने आत्म को;
निश्चयविषे स्थित साधुजन, भाषे जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥**

—समयसार, गाथा ३१

जो अव्रती सम्यग्दृष्टि जितेन्द्रिय जीव संसार दुःख से विमुख हैं, उनके अभी अव्रत के राग-द्वेष सम्बन्धी दुःख का वेदन तो है किन्तु उसके साथ राग से परे चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव भी होता है, वे चैतन्य सुख के प्रेम के कारण संसार दुःख से पराङ्गमुख हैं। उनकी रुचि का वेग पलट कर विषय दुःखों से छूटकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के सन्मुख हुआ है,

बाहर से विषयों की रागप्रवृत्ति दिखती है, परन्तु अन्तर की चेतना उससे अलग है—

**सम्यग्दृष्टि जीव करे कुटुम्ब प्रतिपाल,
अंतर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।**

जिस प्रकार धाय माँ बालक को लाड़-प्यार करती है, बेटा कहकर बुलाती है, किन्तु अन्तर के अभिप्राय में तो प्रत्येक प्रसंग पर उसको ध्यान है कि यह पुत्र वास्तव में मेरा नहीं है, इसको जन्म देनेवाली माता मैं नहीं हूँ; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब परिवार के बीच में रहता है, अव्रत के रागादि और अशुभ विषयों में वर्तता है परन्तु अन्तर में चैतन्यतत्त्व को ही स्वतन्त्र जानता हुआ उसी में तन्मयता वर्तता है, उसमें से एक क्षण को भी पृथक् नहीं होता। अन्तर के अभिप्राय में वह जानता है कि मैं तो चेतनस्वभावी आत्मा हूँ। ये रागादिभाव कुछ भी मेरे चेतनस्वभाव में से उत्पन्न नहीं हुए हैं, मेरा चेतनस्वभाव राग का जनक नहीं है और चेतनस्वभाव के अतिरिक्त उसका विषयों के साथ कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अहो! ऐसी अपूर्व चैतन्य परिणति की धारा धर्मी के निरन्तर वर्तती है, उसके राग में या विषयों में एकत्वभाव कभी नहीं होता, वे दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं, वाह! वाह!! धर्मी की दशा तो देखो! वह तो जितेन्द्रिय जिन है।

सम्यग्दृष्टि की दो धारायें : एक उपादेय, दूसरी हेय

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि के अव्रत में जो दुःख प्रतीत होता है, तो वह उसको छोड़ क्यों नहीं देता ?

उत्तर : भाई! उसने अपनी श्रद्धा में तो उसे छोड़ दिया है। धर्मी

अव्रत को दुःखरूप जानता है। अतः उसकी चेतना राग से पृथक् ही वर्तती है, उसके ज्ञानचेतना तो राग से पृथक् ही है, मुक्त है परन्तु अभी चैतन्य में स्थिररूप वीतरागी परिणाम नहीं, इतनी अस्थिरता उसके वर्तती है; अतः इतना दुःख भी है। धर्मी के चैतन्यरूप वीतरागी सुख भी वर्तता है और अव्रतादि सम्बन्धी दुःख भी वर्तते हैं, इस प्रकार दोनों धारायें धर्मी के वर्तती है, उनको अज्ञानी देख नहीं सकता। अतः उसको ज्ञानी अकेला राग करता ही दिखता है, परन्तु ज्ञानी की रागमुक्त आनन्दमय ज्ञानचेतना उसको दिखती नहीं। ज्ञानी के दोनों धारायें एक साथ होने पर भी उसमें चैतन्य सुख का उपादेयपन और अव्रतादि के दुःख का हेयपन है। चेतना में ऐसा विवेक धर्मी के निरन्तर वर्तता है। उसकी चेतना सुख के वेदन में तन्मय वर्तती है, और दुःख के वेदन से पराङ्गमुख रहती है। इस भाँति आनन्द का उपभोग उसकी दृष्टि में है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जैन है, वह मोक्ष का साधक है।

शुद्ध तत्त्व प्रकाशक-सम्यग्दृष्टि की अद्भुत दशा!
सम्यक्श्रद्धा अनन्त गुण गम्भीर है।

सम्यग्दृष्टि जीव कैसा होता है?

सम्यक्दिष्टिनो जीवा, शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं ।
परिनामं सुद्ध सम्यक्तं, मिथ्यादिष्टि परान्मुखं ॥३४॥
सम्यक् देव गुरं भक्तं, सम्यक् धर्म समाचरः ।
सम्यक् तु वेदंते, मिथ्या त्रिविध मुक्तयं ॥३५॥

— तारण तरण श्रावकाचार गाथा

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के शुद्धस्वरूप का प्रकाशक है, जीवादि

नव तत्त्वों का स्वरूप जैसा है, वैसा वह जानता है। जीवादि तत्त्व के सच्चे स्वरूप को जो न जाने, वह शुद्धता को कैसे साध सकता है? धर्मी जीव जीवादि तत्त्व के स्वरूप को भलीभाँति जानकर उसमें से अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को अन्य से भिन्न अनुभव करता है, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक है, वही वास्तविक पण्डित है, उसे आत्मविद्या आती है, इससे वह वास्तविक विद्वान है, उसका सम्यक्त्व-परिणाम शुद्ध है, व्यवहार का शुभराग-परिणाम है, वह तो शुद्ध नहीं; अशुद्ध है। सम्यक्त्व परिणाम तो रागरहित शुद्ध है और मिथ्यात्व का उसमें अभाव है। वह सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भक्त है, उनकी सविनय पूजा भक्ति में तत्पर है और उनके कथित सम्यक्धर्म का वह आचरण करता है। तीनों प्रकार के मिथ्याभाव से मुक्त होकर वह सम्यक्त्व का अनुभव करता है, सम्यक्त्वादि रूप परिणामित शुद्धात्मा का वह वेदन करता है।

देखो! श्री तारण स्वामी ने सम्यग्दृष्टि जीव की अन्तरंग दशा का कितना सरस वर्णन किया है। चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख हुए सम्यग्दृष्टि के रागादि दुःख भावों के प्रति सहज ही उदासीन भाव हो जाते हैं, अतएव उसका परिणाम संसार से विमुख वर्तता है। भले ही वह गृहवास में हो तो भी निःसन्देह वह संसार से विमुख है। अनन्त गुण गर्भित श्रद्धा के बल से क्या कोई ऐसा है जो आत्मा को पर भावों से पृथक् न देखे?

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के परिणामों में बड़ा अन्तर है। सम्यग्दृष्टि का परिणाम शुद्ध है, वह संसार से विमुख है और स्वभाव के सम्मुख है; किन्तु मिथ्यादृष्टि का परिणाम अशुद्ध है,

वह स्वभाव से विमुख तथा संसार के सन्मुख है। जिसको शुभराग की ही रुचि है, उसका परिणाम संसार के सन्मुख है, मोक्ष के सन्मुख उसका परिणाम नहीं हो सकता।

जैनधर्म का मूल : द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान

धर्मी को सात प्रकृति के क्षयादि से जो शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट हुआ, वह त्रिकाली गुण नहीं, किन्तु गुण का शुद्ध परिणमन है, पर्याय है। सिद्ध प्रभु के आठ गुणों में जो 'सम्यक्त्व' गुण कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ 'गुण' अर्थात् 'गुण की शुद्ध पर्याय, निर्दोष पर्याय' है। सामान्य गुण नया प्रगट नहीं होता है, किन्तु उसकी शुद्ध पर्याय नयी प्रगट होती है। श्रद्धागुण तो सभी जीवों में त्रैकालिक हैं, उसके शुद्ध परिणमन होने से—सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध पर्याय प्रगट होती है, वह भी कोई विरले जीव को ही होती है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं, यथार्थ वैसे ही जानना चाहिए। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान ही तो जैन धर्म का मूल है और वही सम्यक्त्वादि का कारण हैं।

जगत में अनन्तानन्त (अक्षय अनन्त) जीव हैं, प्रत्येक जीव स्वतन्त्र, बिना किसी के बनाये स्वतः सिद्ध है, प्रत्येक जीव में अपने अनन्त गुण और त्रिकाल गुण का स्वतन्त्र पर्याय रूप परिणमन है। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप धर्मी जीव भली प्रकार जानता है। जिनेन्द्र भगवान के मत में ही उसका यथार्थ प्रतिपादन है और जिनेश्वर का नन्दन अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही उसे भलीभाँति जानता है। इसलिए कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा भक्त है। उनके कहे धर्म को वह सम्यक् रूप से आचरण करता है।

मुनि दशा! जिसका सम्यग्दृष्टि भक्त है

सम्यग्दर्शन के उपरान्त जैसे ही बाह्याभ्यंतर परिग्रह के त्यागपूर्वक अन्तर में आत्मस्वरूप में गहन लीनता होती है, उसी समय मुनिदशा होती है। सम्यग्दृष्टि की ऐसी मुनि दशा की निरन्तर भावना होती है। अहो, मुनिदशा की क्या बात! उसका सुख तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक है। वह तो परमेष्ठी पद है। पंच नमस्कार मन्त्र में अरिहन्त और सिद्ध के साथ उसका नाम आता है। सम्यग्दृष्टि जीव भी दासानुदास की तरह परमभक्ति से उसके चरणों में मस्तक झुकाता है। वाह, यह मुनिदशा! अरे! सम्यग्दर्शन भी अपूर्व दशा है, वहाँ मुनिदशा की तो क्या बात! मुनिवर तो आत्मा के महाआनन्द के झूले में झूलते रहते हैं। अहो! वे तो सन्त-परमेश्वर हैं, परम गुरु हैं, मोक्ष के प्रखर साधक हैं, सिद्ध पद के समीपस्थ हैं। ऐसे मुनि का सम्यग्दृष्टि जीव भक्त होता है और उस सम्यग्दृष्टि जीव की दशा भी अलौकिक होती है।

धर्मी के अशुभ-भोग के समय उस भोग से निर्जरा नहीं; सम्यक्त्व से ही निर्जरा है, भोग तो बन्ध के कारण हैं।

ऐसा सम्यग्दर्शन जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है, जिसके कारण वह शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करता है, शुद्धात्मा का स्वसंवेदन करता है। अभी पर्याय में किसी अशुद्धता का वर्तन होने पर भी भेदज्ञान शक्ति के बल से अपने आत्मा को शुद्धतापूर्वक प्रकाशित करता है। भोगादिकों में तो उसको स्वप्न में भी सुख नहीं भासता।

भोग के अशुभ परिणाम के समय सम्यग्दृष्टि की निर्जरा चालू रहती है क्योंकि उस समय उसके अन्तर में शुद्ध तत्त्व के श्रद्धा-ज्ञान

रूप शुद्ध परिणाम की धारा वर्तती रहती है, और वह यथापदवी निर्जरा का ही कारण है, अतएव उसकी निर्जरा चालू रहती है—ऐसा समझ लें। किन्तु विषयों का अशुभराग निर्जरा का कारण नहीं, वह तो बन्ध का ही कारण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जितना भी राग है, वह बन्ध का ही कारण है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भूमिका के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध दोनों भाव एक साथ वर्तते हैं, परन्तु दोनों के कार्य पृथक्-पृथक् हैं। उसमें शुद्धभाव तो निर्जरा के कारण है। अतः उसकी प्रधानता को मानकर धर्मी के निर्जरा कहने में आयी है, वह यथार्थ है।

जीव का संसार, मोक्षमार्ग या मोक्ष, जीव में ही है, अन्यत्र नहीं

मोक्ष या संसार यह जीव का परिणाम है, जो जीव से अन्यत्र नहीं है। शुद्धता की पूर्णता-मोक्ष, आंशिक शुद्धता-मोक्षमार्ग और अशुद्ध परिणाम-संसार है। जीव का संसार शरीर-मकान-कर्म-पैसा आदि अजीव में नहीं रहता; जीव के अशुद्ध भाव में ही जीव का संसार है, मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि भाव ही संसार है। इसी प्रकार अन्तर्मुख परिणति से सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणाम होता है, उसमें मोक्षमार्ग तथा मोक्ष रहता है, वह कहीं अन्यत्र नहीं रहता या बाहर से नहीं आता। जहाँ अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन हुआ, वहाँ आत्मा अपने ही मोक्षमार्गरूप तथा मोक्षरूप हुआ। भाई! तेरे संसार का या मोक्ष का सारा खेल तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में है, अन्यत्र दूसरे के साथ तुझे कुछ लेना-देना नहीं है, ऐसा स्वाधीन जैन मार्ग है।

जो भगवान के मार्ग में आया, वह जीव कैसा है ?

अहो ! जैनमार्ग में सर्वज्ञ देव कथित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जानकर जिसने अनन्त काल में जो नहीं मिला, ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पाया, वही जीव भगवान के मार्ग में आया, वह संसार से परान्मुख होकर मोक्ष के मार्ग में आया। वहाँ अकेला सम्यग्दर्शन नहीं, उसके साथ तो आनन्द-वीतरागता, अतीन्द्रियता एवं मोक्ष सुख का नमूना है, चैतन्य के अनन्त गुण का रस सम्यग्दृष्टि की अनुभूति में घुल रहा है। जीव के एक समय के शुद्ध परिणाम में अनन्त गुण के रस का स्वाद है, यही उसकी अलौकिकता है।

वस्तु परिणामनशील है, जीव बिना परिणाम के नहीं होता

प्रत्येक द्रव्य परिणामनस्वभावी है, जीव में परिणामनस्वभाव है, वह सर्वथा स्थिर नहीं, किन्तु परिणामनशील है। सम्यग्दर्शन भी द्रव्य का परिणाम है और सिद्धपद भी द्रव्य का परिणाम है। वस्तु में परिणामन न मानें तो उसके मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व होने की या संसार छूटकर मोक्ष होने की संभावना ही नहीं रहती। परिणामन होगा तो ही यह सब बन सकेगा। जीव का अज्ञान-परिणामन संसार है। चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञान परिणामन (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामन) हुआ, वह मोक्षमार्ग है और उसकी पराकाष्ठा मोक्ष है। इस भाँति आत्मा अपने-अपने परिणामन स्वभाव के कारण परिणामी जीव स्वयं बन्धरूप अथवा मोक्षरूप होता है, कोई अन्य उसके बन्ध-मोक्ष का कर्ता नहीं। द्रव्य-गुण स्वरूप से आत्मा एकरूप स्थिर रहता है और पर्यायरूप से वह नई-नई अवस्थारूप हुआ करता है—ऐसा उसका अनेकान्त

स्वभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—यह तीनों ज्ञानस्वभाव के आश्रय होते हुए भी शुद्ध वीतरागी परिणाम है, उसका फलरूप सिद्ध दशा है, वह भी आत्मा का परिणाम है। सिद्ध को भी पर्याय होती है। पर्याय-कोई लगाव या उपाधि भाव नहीं, वह तो वस्तु का स्वभाव है। वह वस्तु से पृथक् नहीं होता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, परिणमन स्वभाव के बिना आत्मवस्तु का ही अभाव हो जाएगा। बिना परिणाम के कोई वस्तु नहीं होती।

संसार और मोक्षमार्ग का सच्चा ज्ञान धर्मी के ही है, उसने मोक्ष सुख का स्पर्श कर लिया है।

संसारदशा में भी आत्मा अकेला ही अपनी संसार पर्यायरूप से परिणमन करता है, मोक्षमार्ग की दशा में भी आत्मा अकेला ही अपनी सम्यग्दर्शन आदि पर्यायरूप से परिणमन करता है और मोक्षदशा में भी आत्मा अकेला ही अपनी पूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप पर्यायरूप से परिणमन करता है; इस प्रकार परिणमनस्वभाववाला आत्मा त्रिकाल में पर से भिन्न अपनी-अपनी पर्यायरूप परिणमन करता है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को अज्ञानी देखता नहीं। अतः अपने बन्ध-मोक्ष को पर के कारण हुआ मानता है। उस अज्ञानी को मोक्ष का तो पता नहीं, अपनी संसार पर्याय का पता नहीं। शरीर आदि में वह अपना संसार मानता है किन्तु वह वास्तव में संसार नहीं है। संसार तो जीव की राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध पर्याय है, वैसे ही धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग भी धर्मी जीव का शुद्ध परिणाम (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) है। वह शरीर की चेष्टा में तो नहीं है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु

का भान नहीं, इसलिए वह शुद्ध तत्त्व से विमुख है। वह कभी तो वस्तु को बिना पर्याय के एकान्त नित्य मानता है, कभी एकान्त क्षणिक मानता है, कभी शरीरादि जड़ के साथ आत्मा को अभिन्न मानता है, कभी राग को—पुण्य को मोक्षमार्गरूप मानता है; अतः उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूप से बिल्कुल विपरीत है—मिथ्या है और मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान सहित शुभ आचरण भी मिथ्या ही होता है। सम्यग्दृष्टि का श्रद्धा-ज्ञान वस्तु स्वरूप के बराबर अनुकूल होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वस्तु को वह जैसी है, वैसी ही बराबर जानता है, देहादि की क्रिया को वह आत्मा से भिन्न जानता है, शुभराग को भी वह मोक्षमार्ग से भिन्न जानता है। इस प्रकार जड़ से एवं राग से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानता हुआ, वह धर्मी जीव मोक्ष के सन्मुख वर्तता है। आहा! मोक्ष सुख जिसकी प्रतीत में आ गया है, उसका श्रद्धा-ज्ञान मोक्ष सुख को स्पर्श कर गया है और संसार से विमुख हो गया है।

अहो! चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख!!

‘प्रवचनसार’ में श्री कुन्दकुन्दस्वामी केवली भगवन्तों के अतीन्द्रिय सुख के विषय में अत्यन्त आनन्द से कहते हैं कि अहो! सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय सुख को समझकर जो जीव उल्लासपूर्वक उसको स्वीकार करता है, वह निकट भव्य है और ऐसे अतीन्द्रिय सुख को समझकर भी जो श्रद्धा नहीं करता, उसके प्रति उत्साहित नहीं होता, वह इन्द्रियों के विषयों को ही सुख मानता है, वह जीव अभव्य है। चैतन्य सुख की श्रद्धा के बिना वह जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है और दुःख का ही अनुभव करता है। आत्मा के

सुख की श्रद्धा के बिना सुख का अनुभव उसे कहाँ से होगा। देखो, प्रवचनसार में कहते हैं कि—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोति पुण्णपावाणं ।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोह संछण्णो ॥७७॥

पुण्य और पाप दोनों के फल में इन्द्रिय विषय ही हैं और इन्द्रिय विषयों में जो रमण करता है, वह दुःखी ही है। उसमें (पाप में या पुण्य में) कहीं भी चैतन्य सुख का आभास नहीं, उससे मोक्षार्थी मुमुक्षु के लिये उन दोनों में कोई अन्तर नहीं, दोनों एक से ही हैं, दोनों के सुख का अभाव है। जो जीव ऐसा नहीं मानता और पुण्य में या पुण्य के फलरूप इन्द्रिय विषयों के भोग में सुख मानता है, वह जीव मिथ्यात्व मोह से घिरा हुआ घोर संसार में परिभ्रमण करता है और जो जीव पुण्य अथवा पाप दोनों को विभावरूप एक सा जानकर उन दोनों से भिन्न प्रकार का ऐसा शुद्ध भाव प्रगट करता है, वह जीव अल्प काल में वीतराग होकर मोक्ष सुख का अनुभव करता है।

कुमार्ग के सेवन से महान दुःख पाया। अतः उसे छोड़कर जैन मार्ग का सेवन कर।

यहाँ श्री तारणस्वामी श्रावकाचार में कहते हैं—

अनायतन षट् कस्चैव, तिक्तते जे विचक्षणाः ।

कुदेवं कुदेव धारी चं, कुलिंगी कुलिंग मान्यते ॥३८६॥

कुसास्त्रं विकहा रागं च, तिक्तते सुद्ध दिष्टितं ।

कुसास्त्रं राग त्रिधंते, अभव्यं च, नरयं पतं ॥३८७॥

अरे जीव ! जिन मार्ग से विरुद्ध कुदेवादि को मानकर मिथ्यात्व के सेवन से संसार में नरकादि के घोर दुःख तूने भोगे । अतः हे भाई ! अब तू कुमार्ग का सेवन छोड़कर शुद्ध सम्यक्त्वादि से रत हो । कुदेव-कुशास्त्र-कुलिंग के सेवन से तो तू नरकादि के घोर दुःखों को पायेगा । राग बढ़ानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन करनेवाला जीव मोक्ष के लिये अपात्र है, वह नरकादि में जाता है । कभी शुभराग से स्वर्ग में भी जाए तो वहाँ भी वह मिथ्यात्व से दुःखी ही है । मिथ्यात्व सेवन से स्वर्ग से निकलकर निगोद आदि में जाएगा, इसमें दुःख की क्या बात ? दया करके सन्त कहते हैं कि हे भव्य ! ऐसे दुःखों से छूटने के हेतु तू शुद्ध दृष्टि के आश्रय से मिथ्यात्व को छोड़, कुदेवादिक के सेवन को छोड़ और भक्तिपूर्वक जैनमार्ग की प्रतीति कर, उसका सेवन कर—तेरा महान कल्याण होगा ।

तरण-तारणहार जैन साधु भगवन्तों को नमस्कार

जैन साधु कैसा होता है, यह बात श्रावकाचार में कहते हैं—

संमिक दर्शनं न्यानं, चारित्रं सुद्ध संजमं ।

जिन रूवी सुद्ध दर्वार्थं, साधओ साधु उच्यते ॥४४८ ॥

ऊर्ध आर्ध मध्यं च, लोकालोक विलोकितं ।

आत्मनं सुधात्मानं, महात्मा महाव्रतं ॥४४९ ॥

धर्म ध्यानं च संजुत्तं, प्रकासनं धर्म सुद्धयं ।

जिन उक्तं यस्य सर्वज्ञं, वचनं तस्य प्रकासनं ॥४५० ॥

मिथ्यातं त्रिति सल्यं च, कुन्यानं त्रिति उच्यते ।

राग दोषं च जेतानि, तिकन्ते सुद्ध साधवा ॥४५१ ॥

अप्यं च तारनं सुद्धं, भव्य लोकैक तारकं ।

सुद्धं च लोकलोकांतं, ध्यानारूढं च साधवः ॥४५२॥

श्री तारणस्वामी अध्यात्म दृष्टि से कहते हैं कि रत्नत्रय सहित जो साधु त्रिकरण से शुद्धिपूर्वक आत्मा को ध्याता है, वह साधु अबद्ध है, वह कर्म से बँधता नहीं तथा अल्पकाल में मुक्ति पाता है। उस मुनि का चारित्र आत्मस्वरूप है। शुभराग कोई वास्तविक चारित्र नहीं। आत्मा में एकाग्र होकर आत्मरूप हो जानेवाला चारित्र ही वास्तविक चारित्र है। ऐसे चारित्र से जो मोक्ष साधन करता है, वही साधु है।

और कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित शुद्ध संयमी है, जिनरूप धारण करनेवाला है और शुद्ध आत्मा के अनुरूप अर्थ को साधता है, वही साधु है। वह महात्मा तीन लोक के ज्ञाता ऐसे शुद्ध आत्मा को ध्याता है, यही उसका महाव्रत है। धर्म ध्यान संयुक्त ऐसा वह साधु शुद्ध धर्म का प्रकाश करता है। सर्वज्ञ जिनदेव ने जो तत्त्व कहे हैं, उनका वह प्रकाश करता है।

श्री तारणस्वामी सर्वज्ञदेव की वीतराग वाणी और वीतराग सन्तों के प्रति आदरपूर्वक कहते हैं कि अहो! सर्वज्ञदेव ने आत्मा का शुद्ध धर्म प्रकाशित किया है और मोक्ष साधन करनेवाले साधुओं ने भी सर्वज्ञदेव के वचनानुसार ही शुद्ध आत्मा का प्रकाश किया है। इस प्रकार राग के बिना शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करनेवाले ऐसे वीतराग मार्ग को तथा ऐसे जैन साधु की ही धर्मी जीव श्रद्धा करते हैं। इसके विपरीत मार्ग को वह कदापि नहीं मानता है। अहो! ऐसे वीतराग मार्गी जैन साधु शुद्धभाव से अपने आत्मा को तो भव समुद्र

से तारते ही हैं, किन्तु शुद्ध मार्ग के उपदेश से जगत के भव्य जीवों को भी वे तारनेवाले हैं। इस प्रकार जैन साधु ही तरण-तारण हैं, वे जहाज के समान हैं, जहाज स्वयं तैरता है और उसमें बैठनेवालों को भी तारता है। इसी प्रकार जैन साधु अपने रत्नत्रय के द्वारा स्वयं तरते हैं और उनके द्वारा उपदेशित रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करनेवाले जीवों को भी वे तारते हैं। ऐसे तरण-तारणहार साधु भगवन्तों को नमस्कार हो।

जैन पण्डित कैसा होता है ?

वास्तविक पण्डित कौन है ? श्री तारणस्वामी कहते हैं कि

देवं च ज्ञान रूपेण, परमेष्ठी च संजुक्तं ।

सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति सः पंडिता ॥४२॥

कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिष्ठते ।

सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति सः पंडिता ॥४३॥

— श्रावकाचार, गाथा ४२-४३

अरिहन्त परमेष्ठी जो परम औदारिकशरीर के मध्य केवलज्ञानादि गुणों सहित विराजमान है, वही देव हैं, उसकी जो प्रतीति करता है तथा उनकी ही तरह मैं स्वयं भी इस शरीर के मध्य केवलज्ञानादि स्वभाव सहित हूँ, ऐसा जो जानता है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी ही वास्तविक पण्डित है।

इसी प्रमाण से अष्ट कर्म से विमुक्त मुक्ति स्थान (सिद्धालय) में विराजमान जैसे सिद्ध भगवान हैं, उसी प्रकार ही मेरा आत्मा इस शरीर के मध्य विराज रहा है, ऐसी शुद्ध दृष्टि से जो अनुभव करता है, वही वास्तविक पण्डित है।

हैं सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही ।
गुण आठ से जो हैं अलंकृत, जन्म-मरण-जरा नहीं ॥

— नियमसार, गाथा ४७

— ऐसे निज आत्मा को अन्तर बुद्धि से जो जानता है, वही सच्चा विद्वान और पण्डित है । आत्मा को जाने बिना अकेले शास्त्र के शब्दों का जाननहार हो, उसे सच्चा पण्डित नहीं कहते । वास्तव में जो जानकारी भव से तरने में काम न आवे, ऐसी जानकारी को पण्डिताई कौन कहेगा ? जो चैतन्य विद्या में प्रवीण हो, उसे ही मोक्ष के मार्ग में सच्चा विद्वान कहा जायेगा । भाई ! तूने शास्त्रों के जानने से लोगों को पण्डित माना परन्तु जो तेरा आत्मा है, उसको तूने नहीं जाना तो तेरा क्या हित हुआ ? आत्मा के जाने बिना परमार्थ मार्ग में तो तू मूर्ख ही रहा । योगसार में भी कहते हैं कि—

शास्त्र पाठी भी मूढ है जो निज तत्त्व अजान ।
इस कारण इस जीव को मिले नहीं निर्वाण ॥५३ ॥
परमात्मा को जानके, त्याग करे परभाव ।
सत् पंडित भवसिन्धु को पार करे जिमि नाव ॥८ ॥
जो जाने शुद्धात्म को अशुचि देह से भिन्न ।
ज्ञाता सो सब शास्त्र का शाश्वत् सुख में लीन ॥९५ ॥

और इससे उल्टा—

निज-पर रूप से अज्ञ जन जो न तजे परभाव ।
ज्ञाता भी सब शास्त्र का होय न शिवपुर राव ॥९६ ॥

भले ही कदाचित् शास्त्रज्ञान न पढ़ा हो, संस्कृत वाँचना या भाषण करना न आता हो, परन्तु जिसको आत्मा के स्वरूप को

जानकर उसका अनुभव करना आता हो, वह परमार्थ मार्ग में पण्डित है, बारह अंग का सार उसने जान लिया है; और जो स्व-पर की भिन्नता नहीं जानता, परभाव से भिन्न शुद्धात्मा को अपने में अनुभव नहीं करता, वह अज्ञानी भले ही कदाचित् अनेक शास्त्र पढ़ा हो, तो भी वह मोक्ष सुख को किंचित् भी नहीं पाता है। इस प्रकार जो शुद्धात्मा को जानता है, वही वास्तव में शूरवीर और पण्डित है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी भी कहते हैं कि—

वह धन्य है, कृतकृत्य है शूरवीर अरु पंडित है।
सम्यक्तव-सिद्धि कर अहो! स्वप्न में नहीं दुषित है ॥

— मोक्षप्राभृत, गाथा ८९

अकेले शास्त्र पढ़ लेने से धर्म में पण्डित नहीं कहा जा सकता। जो शुद्धनय के अनुसार सच्चे तत्त्व को जानकर सर्वज्ञ के वचनानुसार उसका कथन करता है, वही पण्डित है। परन्तु आत्मा के मूलभूत सत्य स्वरूप को जो जानता नहीं है और शास्त्र के ज्ञान में ही सन्तुष्ट होकर बैठा है, ऐसे पण्डित के लिये तो कहते हैं कि—

पंडिय पंडिय पंडिय कण छंडिय वि तुस खंडिया।
पथ-अत्थं तुडोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि ॥

— मोक्षमार्गप्रकाशक में पाहुड दोहा की गाथा-८५

हे पण्डित! पण्डित! पण्डित! जो तू परमार्थ तत्त्व को नहीं जानता और शब्द के अर्थ में ही सन्तुष्ट है तो भूषा ग्रहण करनेवाले की तरह तू मूर्ख है। अहो, सभी विद्याओं में आत्मा के जाननेवाली विद्या ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। ऐसी अध्यात्म विद्या तो भारत देश की मूल वस्तु है, इस समय जिसको लोग भूल गये हैं।

धर्मी जानता है कि अहो, परमात्मपन मेरे आत्मा में भरा है, इस शरीरादि में नहीं। इस प्रकार जिसने देह और आत्मा की भिन्नता का विवेक किया और अन्तर्मुख होकर ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव किया, वही वास्तविक पण्डित है और मोक्ष का साधक हैं। पंच परमेष्ठी पद को वह अपने में देखता है।

आत्मा ही अरहन्त है, सिद्ध निश्चय जान,
आचारज उवज्झाय अरु निश्चय साधु समान।

— योगसार, १०४

वह धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा में परमात्मस्वभाव है अर्थात् शुद्ध दृष्टि से मैं परमात्मा ही हूँ—इस प्रमाण से अपने स्वभाव को परमात्मस्वरूप में चिन्तवन करता हुआ अपने ध्यान में किसी परम अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। अतः वह ध्यान सत् है, उसका यह फल है। यदि वह ध्यान मिथ्या होता तो उसके फल में आनन्द क्यों आता? पर्याय में यदि पूरा परमात्मपन प्रगट न हुआ तो भी शक्ति में रहनेवाले परमात्मस्वरूप में पर्याय को लीन करके स्वयं परमात्मस्वरूप ही अपने को ध्याते हुए धर्मी को निर्विकल्प अनुभव का परम अद्भुत आनन्द होता है। अतः अपने को परमात्म-स्वरूप चिन्तवन करना सत् है, वह ध्यान निष्फल नहीं है, मिथ्या नहीं है। योगसार में कहते हैं कि—

जो परमात्मा सो हि मैं जो मैं सो परमात्म।
ऐसा जानके योगिजन तज दो मायाचार ॥२२॥
ध्यान धरे अभ्यन्तरे देखत जो अशरीर।
मिटे जन्म लज्जाजनक पिये न जननी क्षीर ॥६०॥

देह के संयोग और पर्याय में रागादि भाव होने पर भी उनको अपना न मानकर, देह से भिन्न और राग से भी पार ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभाव ही अपने में सत् है। इस रूप में अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान-चिन्तन में लेना, वही अरिहन्त परमात्मा का अभेद ध्यान है, उसमें साधक को आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है और पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है। ऐसा जीव स्व-पर का वास्तविक विवेकी पण्डित है। शेष जो शास्त्र पढ़ते-पढ़ते भी ऐसा माने कि राग की क्रिया अथवा शरीर की क्रिया मोक्ष का कारण होगी तो वह पण्डित कहने मात्र को पण्डित है, वास्तविक पण्डित नहीं।

हे भाई! शास्त्रों में बतायी गयी मूल वस्तु तो तेरे अन्तर में है, जो देह से पार, राग से पार, इन्द्रिय ज्ञान से भी पार है, ऐसी चैतन्य-भावमय वस्तु को तू अन्तर्दृष्टि से जान। जैनधर्म के सच्चे पण्डित या श्रावक होने के लिये यही पहला कर्तव्य है। ●●

[१८]

अठारहवाँ प्रवचन

मात्र शुभराग ही श्रावक का धर्म आचार नहीं होता। जैन श्रावक का मूल धर्म आचार तो सर्वज्ञ जिन कथित शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धा-ज्ञान करना है।

यह श्री तारणस्वामी रचित श्रावकाचार वाँचा जा रहा है, इसमें धर्मी श्रावक का आचार कैसा होता है, उसका वर्णन है। केवल सम्प्रदाय की रूढ़िगत बात नहीं, किन्तु सर्वज्ञदेव की परम्परा से आये हुए जिनागम में कथित वस्तुस्वरूप को जानकर, उसका निर्णय करे और आत्मा का अनुभव करके शुद्धता में वृद्धि करे, ऐसे जैन श्रावक के आचार का यह वर्णन है। सम्यग्दर्शनादि के बिना मात्र शुभराग या बाह्य क्रियाएँ श्रावक का परमार्थ आचार नहीं है, यह तो श्रावक के अन्तर में आत्मज्ञानपूर्वक ऐसे आचार की बात है कि जो मोक्ष का कारण हो।

जैन का श्रावक कहो या विद्वान कहो, वह प्रथम तो अरिहन्त और सिद्ध प्रभु के समान शुद्ध आत्मा को अपने अन्तर में देखता है-जानता है-ध्याता है। इसके बिना जैनधर्म प्रारम्भ नहीं होता।

धर्मी श्रावक जानता है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ

जगत में अनन्त आत्माएँ अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में पूर्ण हैं। जीव पहले मुक्त था, पीछे कर्म के सम्बन्ध से संसारी हुआ,

ऐसा नहीं है। एक बार मुक्त होने के पश्चात् फिर कभी संसारी नहीं होता। अज्ञान के कारण अनादि से उसके संसार भ्रमण है। अपने स्वरूप की पहिचानकर, उसमें लीनता से अनन्त जीव संसार से मुक्त होकर अब तक सिद्ध पद में विराजमान हैं। जैसे वे जीव हैं, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है।

सर्व जीव है सिद्ध सम, जे समझे वे होय।

इस लोक में सर्वोच्च स्थान पर अनन्त सिद्ध भगवान विराजते हैं। अनन्त सिद्ध जीव एक क्षेत्र में स्थित हैं, प्रत्येक का अपना-अपना ज्ञान-आनन्द-अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। किसी का किसी में मिलता नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी मेरा स्वभाव पर से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा धर्मी श्रावक जानता है। चहुँओर अनन्त परमाणुओं सहित सिद्ध भगवान रहते हैं तो भी वे परमाणुओं से भिन्न हैं और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में लीन हैं। ऐसे सिद्ध भगवन्तों की प्रतीति से धर्मी जीव जानता है कि मैं भी सिद्धों की तरह इस देह के परमाणुओं के साथ रहता हुआ भी लक्षण भेद से देह से अत्यन्त पृथक् अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में ही हूँ। मेरे स्वरूप अस्तित्व में देह का प्रवेश नहीं।

और सभी आत्मा कोई एक परमात्मा के अंश हैं, ऐसा नहीं है, सभी आत्मा पृथक्-पृथक् हैं और प्रत्येक आत्मा में अपना-अपना परमात्मपन भरा है। अभी भी शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप ही आत्मा का अस्तित्व है, ऐसा निज परमात्मतत्त्व का निर्णय एवं अनुभव ही सम्यग्दर्शन है और वह प्रत्येक जैन श्रावक का मूल आचार है। ऐसे श्रावक के तीव्र अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग तो पहिले

से ही होता है परन्तु अभक्ष्य न खाये, इतने मात्र से धर्मी नहीं कहा जाएगा। अभक्ष्य के त्याग के उपरान्त देह में आत्मबुद्धिरूप मिथ्यात्व का भी त्याग होना चाहिए। आत्मा को प्रतीति में लेकर मिथ्यात्व को छोड़े, तब ही सच्चा जैनपन तथा धर्मीपन होता है। अतः यह मूल कर्तव्य है। श्रावकधर्म तथा मुनिधर्म दोनों की जड़ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना किसी प्रकार का श्रावकधर्म या मुनिधर्म सच्चा नहीं होता।

बाह्य उपासना में राग : अन्तरंग उपासना में वीतरागता

देखो, यह श्रावक का आचार कहलाता है। लोग भीतर की मूल बात भूलकर मात्र बाहरी आचार में लग गये हैं और इसी में ही धर्म मान रहे हैं। उनको श्री तारणस्वामी ने अन्तर की मूल बात समझाई है। भाई! बाह्य में अरिहन्त और सिद्ध की पूजा-भक्ति तो शुभराग है। अन्तर में सिद्ध के समान अपने आत्मा की उपासना वीतरागी धर्म है। शुभरागरूप बाह्य उपासना तो स्वर्ग का कारण है और वीतरागभावरूप अन्तर उपासना मोक्ष का कारण है।

निज स्वरूप सिद्ध के समान है, सिद्ध प्रभु का जैसा स्वरूप प्रगट है, वैसा ही स्वरूप मेरे आत्मा में स्वभाव से विद्यमान है, ऐसा शुद्धपन जो जानता है और श्रद्धा-ज्ञान अनुभव में लेकर उसकी उपासना करता है, उसको परमार्थ श्रावकाचार होता है और वही मोक्षमार्ग का ज्ञाता-सच्चा पण्डित है, उसके अभाव में श्रावकपन या पण्डितपन मोक्ष के लिये किसी काम का नहीं है।

आत्मनं परमात्मनं—बारम्बार उनकी भावना

श्री तारणस्वामी ने जो ग्रन्थ रचे हैं, वह अपने आत्मतत्त्व की

बारम्बार भावना करने के लिये रचे हैं। भावनारूप होने से उनमें द्रव्य-गुण-पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद आदि सूक्ष्म बातों का विस्तार नहीं आता तो भी भावना में पुनरार्वत दोष भी नहीं लगता। आत्मनं परमात्मनं (आत्मा ही परमात्मा है), ऐसा बारम्बार कहकर उन्होंने आत्मा के जानने का उपदेश दिया है। जो आत्मा को जानता है, वही मोक्ष साधन में प्रवीण होने से पण्डित है। अन्य (शास्त्रादि का) ज्ञान भले ही कम हो परन्तु राग-द्वेष रहित चिदानन्दस्वरूप मैं हूँ—ऐसे अनुभव से वह मोक्षमार्ग को साधता है और सम्यक् श्रावकाचार होता है।

मूँगफली में जैसे दो छिलकों के अन्दर ठोस दाना होता है; उसी प्रकार इस शरीररूप छिलकों से पृथक् तथा अन्दर के रागरूप विकार से भी पृथक् आनन्द की मिठास से भरा हुआ चैतन्य दाना है। उसमें अनन्त गुणों का कस भरा है। ऐसे आत्मा को अनुभव से लेनेवाले धर्मात्मा जीव ही वीतराग देव के मार्ग में विद्वान है, शेष तो सभी जड़वत् हैं। चैतन्य भाव का वेदन तो उसको प्रगट नहीं हुआ, उसके कारण कहा है कि जो कोई आत्मा को नहीं पहचानते हैं, वे शास्त्रों को पढ़ते हुए भी जड़ हैं। वे ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी हों तो भी आत्मज्ञान के बिना निर्वाण को नहीं पा सकते।

आत्मा के अनुभव की ऊँची बात! ऊँची तो निःसन्देह है परन्तु जो हो सके, वह अवश्य करने योग्य

कोई कहे कि आत्मा के अनुभव की यह बात ऊँची बात है, इसका अनुभव तो कौन जाने किसको होता होगा? तो कहते हैं कि

हे भाई! गृहस्थाश्रम में रहनेवाले जीव कर सकते हैं, अतः तुमसे भी हो सकती है, ऐसी यह बात है। अरे! तुम जैन हो, जिनवर के मार्ग में आये हो और भगवान का कहा आत्मज्ञान तुम्हें न हो सके, यह कैसी बात? भगवान ने जो कुछ किया, वह सब करने की शक्ति तुम में है। अपनी निज शक्ति को तुम समहालो, इतनी ही देर है। आत्मा के अनुभव की बात बहुत ऊँची है, यह सत्य है, परन्तु वह तुमसे हो सकती है। ऊँची है, इसलिए नहीं हो सकती—ऐसा नहीं है। अतः इसको ऊँची समझकर उसकी बहुत महिमा रखो और उसमें बहुत प्रयत्न करो, परन्तु ऊँची है, ऐसा कहकर उसका प्रयत्न नहीं छोड़ देना है। बात ऊँची है, परन्तु अपने परम हित की है। अतः सभी उद्यमों से उसे श्रद्धा-ज्ञान में लेने योग्य है। 'ऊँची' कहकर फेंक देने जैसी नहीं है। अरे! इतनी मूल्यवान वस्तु समझने का अवसर गँवा नहीं देना है।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाला चौथे गुणस्थानवाला जीव भी ऐसे आत्मा का अनुभव करता है और वह जीव तत्त्वज्ञानी है, विचक्षण है, मोक्ष साधन करने में चतुर है, विवेकी है, शास्त्रों में कथित सिद्ध जैसे आत्मा को अन्तर्दृष्टि में लेकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उसने किया है; और ऐसे आत्मा को जो नहीं जानता, उसके अन्य सभी ज्ञान थोथे हैं, उसमें कोई सार या हित नहीं, उससे मोक्षमार्ग का साधन नहीं होगा। अरे! जो करने से आत्मा भव से न छूटे और मोक्ष सुख का स्वाद न आवे तो वह सभी असार है। उसमें आत्मा के धर्म का कोई लाभ नहीं है; इसलिए उससे मुड़कर ऐसा कर कि जिससे आत्मा का हित हो।

सिद्धप्रभु की प्रतीति आत्मा के स्वसंवेदनपूर्वक होती है

धर्मात्मा जानता है कि मैं जगत में सर्वश्रेष्ठ अनुपम सिद्ध समान चैतन्यस्वरूप हूँ। स्व सन्मुख होकर ऐसे आत्मा के अनुभव करने से पर्याय में भी शुद्धता और आनन्द प्रगट हुआ अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुवता एवं द्रव्य-गुण-पर्याय सभी इसमें आ गये।

सिद्ध भगवन्तों को आठ कर्मरहित कहा है, परन्तु वे कहीं खाली नहीं, शून्य नहीं—परमानन्द आदि अनन्त गुणों से वे भरपूर हैं और वे अपने अनन्त गुणों को अपने आप में देखते हैं—अनुभव करते हैं। साधक जीव अपने में भी ऐसे आत्मा के स्वसंवेदनपूर्वक सिद्ध भगवान की प्रतीति करते हैं। स्वयं स्वाद लिये बिना इसको ऐसे ही मान लेना—यह मान्यता सत्य नहीं। सर्वज्ञ स्वभावी शाश्वत आत्मा मैं हूँ—ऐसा धर्मी जीव मति-श्रुतज्ञान के स्वसंवेदन से अनुभव करते हैं और वह अनुभव तो मति-श्रुतज्ञान से अतीन्द्रिय है—प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान में आत्मा को पकड़ने की कोई शक्ति नहीं है।

वास्तविक 'णमो सिद्धाणं'

सिद्ध-मुक्त जीव कितने हैं? मुक्त जीव एक नहीं; पृथक्-पृथक् अनन्तों मुक्त जीव हैं। संसारी जीव अनन्त हैं और मुक्त जीव भी अनन्त हैं। 'मुक्त जीव अनन्त हैं' जिस ज्ञान ने अनन्त सिद्धों के अस्तित्व को प्रतीति में लिया है, वह ज्ञान इन्द्रियों से और राग से परे हो जाता है। अहा! अतीन्द्रियज्ञानसहित अनन्त सिद्ध हैं, इसको स्वीकार करनेवाले ज्ञान की शक्ति कितनी! यह ज्ञान तो राग से पार होकर अन्तर स्वभाव में प्रवेश कर जाता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा धर्मी जीव अपने आत्मा को सिद्ध के

समान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप अनुभव करता है। यही वास्तविक 'णमो सिद्धाणं' है।

श्रावक के दो आचार—एक मोक्ष का कारण, एक स्वर्ग का कारण

सिद्ध प्रभु के शरीर नहीं, राग नहीं। अतएव शरीर का अथवा राग का अनुभव करनेवाला मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञान के आनन्द का अनुभव करनेवाला हूँ, वही मेरा सच्चा स्वरूप है। ऐसे स्वरूप की श्रद्धा श्रावक का प्रथम धर्म है और उस श्रावक के वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीतिसहित उनके प्रति भक्ति-पूजा-बहुमान-प्रभावना आदि शुभभाव होते हैं, वह उसका व्यवहार आचार है। धर्मी श्रावक के निश्चय-व्यवहार दोनों की योग्य सन्धि होती है। उसमें जो शुभराग हैं, वह तो स्वर्ग के भव का कारण है और सम्यक्त्व आदि जो शुद्धता है, वह मोक्ष का कारण है। इस प्रकार दोनों भावों का भिन्न-भिन्न स्वरूप और उनका भिन्न-भिन्न फल श्रावक के ध्यान में होता है, अतः वह शुभराग को मोक्ष का साधन नहीं मानता।

अपने अभाव को कौन चाहता है? मोक्ष में चैतन्य सत्ता है, अभाव नहीं।

यदि संसार से छूटकर मुक्त हो जानेवाला सिद्ध जीव अपने स्वतन्त्र निज स्वरूप में न रहे और दूसरे में मिल जाए तो उसका भिन्न अस्तित्व ही नहीं रहा, तो फिर उसके संसार का नाश हुआ या उसकी अपनी सत्ता का ही नाश हो गया? अरे! जो अपने अस्तित्व का ही अभाव हो जाता हो तो ऐसे मोक्ष को कौन चाहेगा, अपने

अभाव को तो कोई चाहता नहीं है। मोक्ष अर्थात् संसार का नाश, दुःख का नाश, विकार का नाश, किन्तु आत्मा का उसमें नाश नहीं है। आत्मा तो अपने अनन्त गुणों सहित स्वतन्त्र विराजमान है। ऐसे आत्मस्वरूप को प्रतीति एवं श्रद्धा में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। श्रावकों को पहले ऐसे सम्यग्दर्शन को प्रगट करके निरन्तर ध्यान में लेते रहना चाहिए—ऐसा प्रभु कुन्दकुन्दस्वामी का उपदेश है। ऐसे सम्यक्त्व के परिणामन से अष्ट कर्म नष्ट होकर सिद्ध पद प्रगट होता है।

धर्मी के अहं कैसा? हाँ, स्व में अहंपना होता है। स्व में अहंपना दोष नहीं—पर मैं अहंपना दोष है।

यहाँ कहा है कि 'सो अहं देह मध्येषु यो जानति स पंडितः' अर्थात् जैसे ज्ञानानन्दस्वरूप सिद्ध भगवान मोक्षालय में विराजमान हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा इस देह के मध्य में हूँ—ऐसा जो जानता है, वह पण्डित है।

कोई कहे कि धर्मी जीव 'अहं' शब्द प्रयोग न करे क्योंकि अहं शब्द अभिमान सूचक है।

उसका समाधान—धर्मी जीव के परवस्तु में 'अहं'पना नहीं होता किन्तु अपने निज रूप में 'अहं' (यह मैं हूँ—ऐसी सम्यक् बुद्धि) धर्मी के होती है। पर मैं अहंबुद्धि करना दोष है, किन्तु अपने स्वरूप को ही अपना जाने और उसमें अहंबुद्धि करे तो कोई दोष नहीं है। शब्द के तो अनेकों अर्थ होते हैं। अतः 'अहं' शब्द अभिमान सूचक ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। समयसार की ३८वीं गाथा में आचार्यदेव ने धर्मी के स्वानुभव का वर्णन किया है,

वहाँ कहते हैं कि 'अहमिक्को खलु सुद्धो.....' इस प्रकार आत्मस्वरूप में 'अहं' यह तो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतीति सूचक है और पर से भिन्नता के भेदज्ञान का सूचक है। जो अपने में अपनेपन की अहंबुद्धि नहीं करे तो अपने अस्तित्व को किस प्रकार जानेगा ? सो 'अहं' अर्थात् उन सिद्ध जैसा मैं हूँ—ऐसा धर्मी अपने आत्मा को पर से भिन्न, सिद्ध स्वरूप की भाँति ज्ञान में—अनुभव में लेता है और उसकी सन्मुखता से सिद्ध पद को साधता है। अहा ! ऐसे अपूर्व चैतन्य तत्त्व में 'अहं' की बुद्धि करने से अभिमान नहीं होता किन्तु आनन्द का अनुभव होता है और अनादि का मिथ्या अभिमान गल जाता है। धर्मी की दशा एक अलौकिक है।

वास्तविक तरण पंथी

'सिद्ध जैसा मैं हूँ'—किन्तु सिद्ध सिद्ध में और मैं मेरे में। अनन्त सिद्धों से मैं पृथक् हूँ, अनन्त कर्मों से भी मैं पृथक् हूँ। अनन्त निज गुणों से पृथक् नहीं। अहो ! ऐसा ज्ञान तथा ऐसा अनुभव जो करे, वह श्रेष्ठ पण्डित है, वह धर्मी है, वह मोक्ष का पन्थी है, वह तरने के पन्थ में आया है। जो जीव आत्मा को पहचानकर भव से तरने का उपाय करे, वही वास्तविक तरण पन्थी कहा जाता है। धर्मी श्रावक को ऐसे श्रद्धा-ज्ञानरूप आचार होता है, वह मोक्ष का कारण है।

अनन्त सिद्धों के अस्तित्व को स्वीकार करने की शक्ति रागवाले ज्ञान में नहीं, उसे स्वीकार करनेवाला ज्ञान अतीन्द्रिय होता है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं ऐसा न मानकर जगत में

एक ही आत्मा है तथा यह जो पृथक्-पृथक् जीवात्मा दिखते हैं, वे उसका अंश हैं—इस प्रकार जिसका मत है, उसके मत में अनन्त जीवों का ज्ञान नहीं हुआ; अतः सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हुई। जगत में ज्ञेयपन से अनन्त जीव-अजीव पदार्थ सत् हैं, उस सत् को जो स्वीकार न करे, उसको उनका ज्ञान कहाँ से होगा ? अतएव सत् का नकार तो ज्ञान का ही नकार है। जगत में अनन्त जीवों के स्वतन्त्र अस्तित्व को जो स्वीकार न करे, वह अपने सर्वज्ञस्वभाव को ही स्वीकार नहीं करता। 'मैं सर्वज्ञस्वभावी हूँ'—ऐसा स्वीकार किया तो उस सर्वज्ञता के ज्ञेयरूप अनन्त जीव-अजीवों का स्वीकारपन उसमें आ जाता है। सर्व ज्ञेयों को जो स्वीकार नहीं करता, वह जाननहार सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा को भी नहीं जानता।

अहो, वस्तु का स्वभाव ! इसे स्वीकार किया जाए तो उसमें सर्वज्ञता और वीतरागता का मूल है। एक-एक आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव और ऐसे अन्य अनन्त स्वभावों से पूरा परमात्मा और ऐसे अनन्त आत्मा वे सभी अपने-अपने स्वभाव से पूर्ण हैं। उसको साधकर अनन्त जीवों ने सर्वज्ञ पर्याय प्रगट की और सिद्धपद पाया है। ऐसे अनन्त सर्वज्ञों को इस एक जीव का ज्ञान जान लेता है। अर्थात् इस जीव के ज्ञान की एक पर्याय में अनन्तानन्त सिद्ध भगवान ज्ञेयपन से आ जाते हैं तो इस ज्ञान की दिव्यशक्ति कितनी ? ऐसी शक्ति रागवाले ज्ञान में या इन्द्रियवाले ज्ञान में नहीं हो सकती। राग से एवं इन्द्रियों से भिन्न होकर अन्तर के सर्वज्ञस्वभाव के सन्मुख हुए अतीन्द्रिय ज्ञान में ही यह शक्ति है। ऐसी पर्यायरूप हुआ धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा में सिद्ध जैसा सर्वज्ञस्वभाव

शाश्वत-ध्रुव है और सर्वज्ञ पर्यायरूप परिणामन किये अनन्त सिद्ध जीव इस जगत में हैं।

छोटे ज्ञान में बड़ा ज्ञेय : स्वानुभव का यह अवसर है

जिस प्रकार छोटी-सी आँख में हजारों घड़ों का पानी नहीं समा सकता, परन्तु वह सभी घड़ों को एक साथ जान लेती है, ऐसी शक्ति आँख में है। उसी प्रकार छोटा आत्मा अर्थात् मध्यम क्षेत्रवाला असंख्य प्रदेशी आत्मा, उसके क्षेत्र में जगत के अनन्त जीव-अजीव पदार्थ प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु उसका ज्ञान सभी पदार्थों को (बड़े अलोक को भी) एक साथ जान ले, ऐसी शक्ति आत्मा में है। उसका क्षेत्र भले ही मर्यादित हो परन्तु चैतन्य शक्तियाँ अमर्यादित हैं। अहो! ऐसा अचिन्त्य सर्वज्ञस्वरूपी, हे जीव! तू स्वयं ही है। अभी भी तुझमें ध्रुव परमात्मपन स्थिर है—उसका अभाव नहीं। उसको स्वीकार करके उसके सन्मुख हो, इतनी ही देरी है। उसके सन्मुख होते हुए अनुभव करते ही परमात्म पद का महा आनन्द तुझे तेरे अनुभव में आयेगा। ऐसे अनुभव करने का यह मौका है। ऐसे अवसर पर नहीं करेगा तो कब करेगा? सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को ऐसा अनुभव होता है। व्रत-महाव्रत के पहले भी ऐसे आत्मा को अनुभव में-श्रद्धा में-ज्ञान में लेना श्रावकों का काम है। ऐसे अनुभव के पश्चात् ही वास्तविक श्रावकदशा अथवा मुनिदशा होती है।

देव-गुरु-शास्त्र की सम्यक् उपासना ज्ञान से; राग से नहीं

देव पूजा, गुरु की सेवा और शास्त्र स्वाध्याय आदि श्रावक के नित्य के कर्तव्य कहे हैं, परन्तु देव कैसा होता है और उसका कहा

आत्मस्वरूप कैसा है ? गुरु कैसा होता है और उसने किस भाव से आत्मा को साधा है ? और शास्त्रों ने आत्मा का स्वरूप तथा मोक्ष का मार्ग कैसा बताया है ? उसकी पहिचान करे, तभी देव-गुरु-शास्त्र की सम्यक् उपासना होगी। पहिचान के बिना मात्र शुभराग से देव-गुरु-शास्त्र की उपासना का वास्तविक फल नहीं मिलता। अहा, सर्वज्ञ देव किसको कहते हैं ? उसकी पहिचान से तो आत्मा का परमार्थ स्वरूप पहिचाना जाता है और सम्यग्दर्शन हो जाता है परन्तु ऐसी पहिचान शुभराग से नहीं होती; ज्ञान से ही पहिचान होती है। उस ज्ञान का और राग का कार्य बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। राग से जो अरिहन्त को पूजता है, वह आत्मा को जानता है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'ज्ञान से जो अरिहन्त को जानता है, वह आत्मा को जानता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है' ऐसा कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है। अरिहन्त के प्रति पूजादि शुभराग तो पुण्यबन्ध का कारण है। उस राग से आत्मा नहीं पहिचाना जाता और न उससे भव का अन्त आता है, परन्तु राग से परे ऐसे अरिहन्त के आत्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के वास्तविक ज्ञान से राग और ज्ञान का भेदज्ञान हो जाता है और आत्मा का सही स्वरूप जाना जाता है, उस ज्ञान से भव का अन्त होता है। धर्मी को पूजादि का शुभभाव होता है, परन्तु उसका जितना माप है, उतना वह जानता है।

अहो! देव-गुरु का अपार उपकार

अहो! जिन भगवन्तों ने, जिन गुरुओं ने ऐसे अद्भुत मेरे स्वरूप को मुझे समझाया, अनन्त काल के घोर अज्ञान दुःख से मुझे छुड़ाया और छुटकारे का मार्ग बताया, उन भगवन्तों के और उन गुरुओं के

अपार उपकार की क्या बात ! उनका जितना भी बहुमान करूँ—
वह थोड़ा है ।

**क्या प्रभु चरण निकट धरुं ! आत्मा से सब हीन,
वह तो प्रभु ने ही दिया, वर्तुं चरणाधीन ॥**

अहो ! श्रीगुरु ने तो आत्मा का स्वरूप समझाकर महान उपकार किया । उस आत्मा की तुलना कर सके, ऐसी अन्य कोई वस्तु जगत में नहीं कि जिसके द्वारा मैं गुरु के उपकार का बदला दूँ । इस प्रकार श्री देव-गुरु के प्रति और उनकी वीतराग वाणी के प्रति धर्मी के मन में अत्यन्त बहुमान वर्तता है । इस प्रकार श्रावक की भूमिका में प्रतिदिन देव-गुरु-शास्त्र की उपासना, स्वाध्याय, दान आदि भाव आता है । उसमें जो शुभराग है, वह तो स्वर्ग का कारण है, वह श्रावक का व्यवहार-आचार है, और अन्तर में सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप जितनी शुद्धता प्रगटी है, वह उसका परमार्थ-आचार है, वह मोक्ष का कारण है ।

निज तत्त्व की भावना बारम्बार भाने योग्य है

ऐसा सर्वज्ञस्वभाव अपने में ही है । देह मन्दिर में चैतन्य परमात्मा स्वयं विराजमान है । क्षेत्र की अपेक्षा से देह के मध्य में होते हुए भी देह से अत्यन्त विलक्षण भिन्न प्रकार का है । ऐसे निज तत्त्व की भावना बारम्बार भाने योग्य है । श्रावक गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ऐसे आत्मा की भावना भाता है । देखिये, श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मज्ञान सहित 'अपूर्व अवसर' में परम पद प्राप्ति की कितनी सरल भावना भायी है ! उसमें निश्चय-व्यवहार की सन्धि है । आत्मा के ज्ञान बिना, उसकी भावना के बिना, अकेले शुभराग में

तल्लीन रहे तो वह मिथ्यादृष्टि का एकान्त व्यवहार है, उसमें धर्म का लाभ किंचित भी नहीं। ज्ञानी के शुभराग होता है परन्तु वह राग में तल्लीन नहीं होता, वह राग से समय अपने अन्तर में राग हीन अपने सर्वज्ञ-स्वभाव को स्वीकारता है। वह निश्चय धर्म है और देव पूजा, स्वाध्याय आदि व्यवहार धर्म है। इस भाँति व्यवहार धर्म का लोप नहीं परन्तु उसका जैसा स्वरूप है, वैसा स्थापन है। अज्ञानी तो आत्मा को जानता नहीं तथा अकेले पूजादि राग को ही परमार्थ धर्म मानता हुआ निश्चय धर्म का लोप करता है, उसको वास्तविक श्रावकपना नहीं होता। श्रावक तो अन्तर में अपने आत्मगुणों के विलास को देखकर, उसकी भावना भाता है।

देह देवालय में प्रभु विराजे

श्री तारणस्वामी श्रावकाचार की ४५ वीं गाथा में कहते हैं कि—

दर्शन ज्ञान संजुक्तं चरनं वीर्यं अनन्तयं ।
अमूर्तं ज्ञानसंसुद्धं देहे देवलि तिष्ठते ॥

इस देह देवालय में ही शुद्ध ज्ञानमय अमूर्त-आत्मा अपने अनन्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य सहित विराजमान है। वह शरीर के मूर्त आकारवाला नहीं किन्तु अपने अमूर्त चैतन्य आकारवाला है। ज्ञानी-महात्मा अपने ऐसे आत्मा को अपने आप में देखकर स्वानुभव का आनन्द लेते हैं।

निज स्वरूप में जो रमे, छोड़ी सकल व्यवहार,
सम्यग्दृष्टि जीव वह, शीघ्र लहे भव पार,

— योगसार, ८८

केवली भगवान की भाँति अनन्त चतुष्टयस्वरूप आत्मा को स्वीकार करने से सम्यग्दर्शन के साथ दो चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागभावरूप पर्याय प्रगट हुई, वह श्रावक का धर्म है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अपने स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय राग से भिन्न पड़ी है। राग होने पर भी वह अपने स्वभाव को अनन्त ज्ञानरूप एवं वीतरागी चारित्ररूप जानता है। देह देवालय में मैं ऐसा सर्वज्ञ-वीतरागस्वभावी देव विराजमान हूँ। इस प्रकार अन्तर्मुख होकर स्वभाव के आदर करने से श्रावक की मोक्षमार्ग पर्याय प्रगट होती है। इसका नाम जैन शासन है।

जिनरंजन मोक्षमार्ग : जनरंजन संसार

अहो, जैन शासन एक अपूर्व है, अन्य किसी के साथ उसका मिलान नहीं हो सकता। अन्य मिथ्यामत के साथ सर्वज्ञ के जैनधर्म का मिलान करना जनरंजन है और जहाँ जनरंजन है, वहाँ जिनरंजन होता नहीं। जनरंजन तो संसार है। भाई! तू जगत को प्रसन्न करने के लिये रुका तो मोक्ष को कब साधेगा? जनरंजन की वृत्ति को छोड़कर जिनरंजन कर अर्थात् आत्मा प्रसन्न हो और आत्मा का हित हो, वही कर।

राग से धर्म मनवानेवाले अज्ञानी जिनरंजन को अर्थात् जिनमार्ग को भूलकर जनरंजन में पड़े हैं। भगवान के वीतराग मार्ग में राग से धर्म मनवाना या लोगों की अनुकूलता हेतु राग के पोषण का उपदेश देना तो जिनोपदेश के विरुद्ध है। अतः उसमें जिन द्रोह है। सम्यग्दृष्टि तो जनरंजन छोड़कर 'आत्मरंजन' करता है। लोग प्रसन्न हों या न हों, किन्तु मेरा आत्मा प्रसन्न हो एवं मेरा आत्मा धर्म साधन द्वारा इस

भव दुःख से छूटकर मोक्षसुख को प्राप्त करे, ऐसा धर्मी का लक्ष्य है। अतः लोगों को प्रसन्न करके वह कभी जिन द्रोह नहीं करता अर्थात् जिन उपदेश के विपरीत प्ररूपण कभी नहीं करता।

अन्तरात्मा की परीक्षा

अब अन्तरात्मा कैसा होता है ? अथवा अन्तरात्मा होने के लिये जीव को क्या करना चाहिए ? यह बात श्री तारणस्वामी ४९वीं गाथा में कहते हैं—

विन्यानं जेवि जानंते अप्पा पर परषये ।

परिचये अप्प सभ्दावं, अंतर आत्मा परषये ॥४९॥

परीक्षा के द्वारा आत्मा और पर को भिन्न जानकर जो जीव भेदविज्ञान करता है, और आत्मा की शुद्ध सत्ता का अर्थात् आत्मा के स्वभाव का परिचय करता है, उस जीव को अन्तरात्मारूप समझो।

देखो, ऐसे धर्मी-अन्तरात्मा को समझकर अन्तरात्मा होने की रीत ! इस रीत से जिसको अन्तरात्मा को समझना आता है, उसको स्वयं भी अन्तरात्मा होना आता है, क्योंकि उस अन्तरात्मा के स्व-पर को भिन्न किस लक्षण से जाना और राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप को किस भाँति अनुभव किया ? इसकी पहचान करने से अपने में भी भेदज्ञान होकर पर से और राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता है।

मुमुक्षु जीव को स्व-पर के भेदज्ञान से और भीतर ज्ञान तथा राग के सूक्ष्म भेदज्ञान से तत्त्व की परीक्षा (निर्णय) करके वास्तविक

पहचान करना चाहिए। जिस प्रकार स्वर्ण और पीतल की परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं कौन है? तथा राग और अजीव पदार्थ जगत में कैसे हैं? इसे यथार्थ में समझना चाहिए तथा एक-दूसरे में हेलमेल नहीं करना चाहिए।

जहाँ यह देह है, वहाँ ही देह भिन्न आत्मा असंख्य चैतन्य प्रदेशी विद्यमान है। जगत के अन्य सभी चेतन या अचेतन पदार्थों से भिन्न है। अतः उसको अपने अनुभव करने हेतु यहीं अपने ही भीतर एकाग्र करना पड़ता है; अपने से बाहर देखना नहीं पड़ता। सर्व व्यापक नहीं होना पड़ता, किन्तु अन्तर्व्यापक होना पड़ता है। अन्तर में एकाग्रता से आत्मा का पता लगता है; बाहर में एकाग्रता से आत्मा का पता नहीं लगता। अतएव बाहर में आत्मा नहीं, अन्तर में आत्मा है—ऐसे न्याय से अबाधित परीक्षा से पर से भिन्न अपने स्वरूप का निर्णय करना चाहिए और जहाँ आत्मा है, वहाँ ही आत्मा का सुख है। आत्मा का सुख आत्मा से बाहर अन्यत्र कहीं नहीं। हे जीव! सुख अन्तर में है, बाहर में नहीं। बाहर में नहीं खोज। अन्तर के सुख को प्राप्त करने के लिये बाह्य पदार्थों के अचरज को भूल तथा चैतन्य की अद्भुतता को जान। तेरे आत्मा की अचिन्त्य महिमा ज्ञान में आने से उसका सुख तुझे अपने में ही अनुभव होगा। आनन्द के अनुभव के लिये अपनी पर्याय अपने असंख्य प्रदेशी स्वद्रव्य में एकाग्र होती है। इस प्रकार धर्मी जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-भाव को अन्य से भिन्न जानता है। ऐसा भेदज्ञान वास्तविक वीतरागी विज्ञान है। वही मोक्ष सुख का कारण है। अन्तरात्मा ज्ञानी ऐसे भेदज्ञान से जाना जाता है।

जहाँ अनेकान्त है, वहीं वास्तविक भेदज्ञान है

अहो, सूक्ष्म अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व जैसा है, वैसा सर्वज्ञ के मार्ग में कहा है, उसको जानकर धर्मी जीव स्व-पर की भिन्नतारूप भेदज्ञान और आत्मज्ञान करता है। दो तत्त्व पृथक्-पृथक् विद्यमान हों तो उनका भेदज्ञान हो, किन्तु यदि एक ही तत्त्व हो और दूसरे कोई तत्त्व जगत में हो ही नहीं तो भेदज्ञान किससे ?

समयसार में 'उदयति न नय श्री,....' यह नौवें कलश में अनुभूति के समय का वर्णन करते हुए ऐसा कहा है कि स्वानुभूति में नय-प्रमाण-निक्षेप सम्बन्धी विकल्प नहीं, चैतन्य की अनुभूति में द्वैत प्रतिभासित नहीं होता, किन्तु उससे कहीं स्वानुभूति में अकेला अद्वैत नहीं। उस अनुभव में अपना आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद बिना अद्वैत हुआ, किन्तु जगत में अन्य अनन्त आत्माएँ पृथक् हैं, उनके साथ कहीं यह आत्मा अद्वैत नहीं हो गया, उनसे तो पृथक् का पृथक् ही है। इस प्रकार अनेकान्त से धर्मी जीव वस्तुस्वरूप जानता है।

महावीर का मार्ग... उसे प्राप्त करने हेतु सूक्ष्म बुद्धि अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान

श्रावक को स्व और पर दोनों को सूक्ष्म परीक्षा से जानकर भेदज्ञान करना चाहिए। वीतराग मार्ग सूक्ष्म बुद्धि का है। सूक्ष्म बुद्धि कहो या अतीन्द्रिय ज्ञान कहो, ऐसा भगवान का मार्ग है। सूक्ष्म बोध का सदैव अभिलाषी जीव भगवान महावीर के मार्ग का पात्र है। वीर का मार्ग तो सूक्ष्म बोधवाला है, उसमें सूक्ष्म बुद्धि से स्व-पर तत्त्वों का, उनके एक समय की पर्याय में वर्तता ज्ञान और राग की

भिन्नता का ज्ञान कराया है। ऐसा सूक्ष्म बोधवाला जीव महावीर भगवान के वीतराग मार्ग को पाने का पात्र है। अकेले इन्द्रियज्ञान से या शुभराग से महावीर का मार्ग नहीं पा सकते। चैतन्य के समीप इन्द्रियज्ञान या शुभराग तो स्थूल है, उसमें चैतन्य तत्त्व के ग्रहण करने की शक्ति नहीं। चैतन्य तत्त्व को समझने के लिये ज्ञान को सूक्ष्म (इन्द्रियों से और राग से परे) करना चाहिए। ऐसी सूक्ष्म बुद्धि से स्व-पर को भिन्न समझकर बारम्बार स्व तत्त्व का गहन परिचय करने से उसका अपूर्व अनुभव होता है और वही भगवान महावीर का मार्ग है।

तीन बातें—स्व-पर का भेदज्ञान; स्वतत्त्व का परिचय और स्वाभाव का अनुभव

देखो, इसमें सूक्ष्म बुद्धि से परीक्षा करके स्व-पर का भेदज्ञान; स्वतत्त्व का परिचय और अनुभव—ऐसी तीन बातें हैं।

— सूक्ष्म बुद्धि से प्रथम तो सर्वज्ञ के मार्ग अनुसार परीक्षा करके स्व-पर को पृथक् जानना।

— स्व-पर को पृथक् जानकर क्या करना ?

आत्मा के स्वभाव का ही परिचय करना और पर के परिचय को छोड़ना। पर को जानने को तो कहा है किन्तु उसके परिचय करने को नहीं कहा। परिचय, बारम्बार अभ्यास तो अपने चैतन्य तत्त्व का करना, राग का परिचय नहीं करना। स्व-पर को भिन्न जानकर पर से पृथक् अपने चैतन्यस्वभाव के सद्भाव का परिचय करना गहन विचार करना।

— स्वभाव का परिचय करने से क्या होगा ?

उसका साक्षात् अनुभव होगा; अतः पर से भिन्न अपना जो परम आनन्दस्वाभाव है, उसमें बारम्बार सन्मुखता करके अत्यन्त रस से उसका परिचय करना। अनन्त स्वभावरूप चैतन्य सत्ता अपनी है—उसका परिचय कहो, संगत कहो, प्रेम कहो, तन्मय परिणाम कहो, अथवा एकाग्रता कहो, उसके फल में अपूर्व अन्तर रस का अनुभव होता है।

यह परमार्थ सत्-संग है। 'सत्' ऐसी अपनी चैतन्य सत्ता, उसका 'संग' अर्थात् अनुभव, यह वास्तविक सत्संग है। जिसने पर संग को छोड़कर ऐसे सत् का संग किया, वह जीव मोक्ष के मार्ग में आया और उसने संसार का संग छोड़ा। अनादि से अपना असंग, चैतन्य तत्त्व का संग छोड़कर अज्ञानी ने राग का और पर का संग (कुसंग) किया, उससे वह संसार में दुःखी हुआ। उस कुसंग को छोड़कर अब सत् का संग किया, चैतन्य के सद्भावरूप सत् का संग किया-परिचय किया-अनुभव किया, उससे जीव धर्मी हुआ और मोक्षमार्ग में आया।

श्री कुन्दकुन्दस्वामी श्री समयसार में कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम भोगबंध कहा।

एयत्तस्सुवलभो णवणि ण सुजहो विहत्तस्स॥

— समयसार, गाथा ४

हे जीव! चैतन्य के एकत्वस्वरूप का श्रवण, परिचय-अनुभव तूने पूर्व में कभी किया नहीं, तूने राग कथा का ही श्रवण परिचय-अनुभव किया है। उसमें तेरी शोभा नहीं है। अब पर से भिन्न आत्मा के एकत्व स्वरूप की बात हम तुझे समयसार द्वारा कहते हैं, उसे

लक्ष्य में लेकर उसका बारम्बार श्रवण-परिचय और अनुभव कर। उस एकत्व में ही आत्मा की शोभा है। उसका अनुभव ही मोक्षमार्ग है, उसमें अन्तरात्मा का अवलोकन है। इस प्रकार श्रावक को पहले लक्षणादि से आत्मा को जानकर, उसका परिचय और अनुभव करना चाहिए। ऐसा अनुभव करे, वही अन्तरात्मा है। ऐसा अनुभव करनेवाला जीव गृहस्थ हो तो भी वह मोक्षमार्गी है तथा ऐसे आत्मा के अनुभव बिना जीव त्यागी हो तो भी वह बहिरात्मा है, वह मोक्ष मार्ग नहीं है, अतः सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा स्व-पर की भिन्नता समझकर बारम्बार स्व-तत्त्व का परिचय करो एवं परभाव का परिचय छोड़ो। जिसको जिसका प्रेम होता है, जिसमें मिठास होती है, उसको बारम्बार परिचय करने में ऊब नहीं आती, किन्तु आनन्द आता है, क्योंकि उसे स्वतत्त्व का परम प्रेम है और उसके आनन्द की मिठास का स्वाद उसे आ गया है।

जिनदेव का भक्त—वह कुदेव को कभी सेवे नहीं

धर्मी जीव वीतराग सर्वज्ञदेव की एवं उनके कहे जैनमार्ग की ही उपासना करता है, कुदेवादि की स्वप्न में भी उपासना नहीं करता, उनकी प्रतीति नहीं करता और लोक मूढ़ता से कुदेवादि की उपासना करे तो वह जीव नरकादि के घोर दुःख पाता है, यह बात श्री तारणस्वामी गाथा ५९ तथा ६० में कहते हैं—

सुदेवं न उपासंते, क्रियते लोक मूढयं।

कुदेवे याहि भक्तिश्च, बिस्वांस नश्यं पतं ॥५९॥

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंधं अंधेन दृश्यते।

मार्गे किं प्रवेसं च, अंध कूपं पतंति ये ॥६०॥

वीतराग-सर्वज्ञ जैसे सच्चे देव की पूजा-उपासना जो नहीं करता और लोकमूढ़ता से रागी-द्वेष-कुदेव की भक्ति तथा श्रद्धा करता है, वह मिथ्याभाव के कारण नरक में गिरता है, दुर्गति में जाता है।

जिस प्रकार अन्धा अन्धे का अनुसरण करे तो कभी भी मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकेगा, वह कुँएँ में तो गिर जावेगा; उसी प्रकार जो जीव स्वयं तो अन्धा अज्ञानी है, मोक्षमार्ग को जानता नहीं और अन्य अन्धे का अनुसरण करे अर्थात् अदेव को देव मानकर मोही जीवों की भक्ति करे, वह जीव संसाररूपी अन्ध कूप में गिर जावेगा और नरक-तिर्यच के घोर दुःख पायेगा।

अरे भाई! जैन होकर तू तेरे भगवान को भी न समझे और अन्य को माने तो तू जैन कैसा ?

जैन अपने वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्त और सिद्ध भगवान के अतिरिक्त अन्य को तो शीश जाए तो भी देव के रूप में नहीं मानता। जिनको अपने हित-अहित का विचार नहीं, स्व-पर की परीक्षा नहीं तथा सर्वज्ञदेव-कुदेव के बीच का विवेक नहीं, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं अन्धे हैं। वास्तविक मार्ग उन्होंने देखा नहीं तो दूसरों को वे सच्चा मार्ग कहाँ से बता सकेंगे ? और ऐसे अन्धे का अनुसरण करनेवाले जीव सच्चा मार्ग कहाँ से पा सकेंगे ? जिसने स्वयं कभी मार्ग देखा नहीं, ऐसा अन्धा दूसरे अन्धे से कहे कि तू इस मार्ग से आ। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव या जिनने कभी आत्मा जाना नहीं, मोक्षमार्ग देखा नहीं, सम्यग्ज्ञान चक्षु जिनके खुले नहीं, ऐसे अन्धे जीवों के बताये मार्ग से अज्ञानी लोग मोक्ष का सच्चा मार्ग किस प्रकार पा सकेंगे ? राग से धर्म मानें, शरीर की जड़ क्रिया को

आत्मा की मानें, यह सभी बातें तो अन्धों द्वारा बताये गये मार्ग जैसी मिथ्या है और वे संसार कूप में गिरनेवाली हैं। जिसने सर्वज्ञ परमात्मा को पहचाना नहीं, आत्मा क्या है, वह जानता नहीं, नव तत्त्वों को मानता नहीं—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के बताये कुमार्ग को हे मत्स्य ! तू नहीं मान, इस मार्ग से नहीं चल, सर्वज्ञ के मार्ग को पहचानकर भक्ति से उसका सेवन कर। सर्वज्ञदेव के मार्ग को पहचानकर स्व-पर का विवेक करो और स्वतत्त्व का परिचय तथा अनुभव करो। यही श्रावक का कर्तव्य है। ●●

[१९]

उन्नीसवाँ प्रवचन

जैन-श्रावक अपने देव-गुरु-धर्म को
भलीभाँति समझता है। अरे, जैन होकर जो
अपने भगवान को न समझे, उसे क्या कहें ?

धर्मी श्रावक को लेश-मात्र मोह-मदिरा नहीं होती, वह तो
चैतन्य के वीतरागी अमृत का पान करता है।

जैन श्रावक को बाह्य में तो, मदिरा-मद्य होता ही नहीं और
भीतर के अध्यात्म में मिथ्यात्वरूपी मदिरा पान नहीं होता। अरे,
जिसने चैतन्य के अनुभव का अमृत रस पान किया, उसको मदिरा
का नाम कैसा ? श्रावकाचार की गाथा ११५-११६ में श्री तारणस्वामी
कहते हैं कि —

जिन उत्कं न सार्धन्ते मिथ्या रागादि भावना ।
अनृतं नृत जानंति ममतं मान भूतयं ॥
सुद्ध तत्त्वं न वेदंते असुद्धं सुद्ध गीयते ।
मद्य ममत्त भावस्य मद्यदोषं जथा बुधैः ।

जिस प्रकार मदिरा पान करने से विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है,
उसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व मोहरूपी मदिरापान किया हो, उसको
स्व-पर का विवेक नहीं रहता, स्व को पररूप और पर को स्व-
रूप मानकर मोह से संसार में भ्रमता है। मदिरापान, जुआ आदि

पाप व्यसन आर्य सज्जन के नहीं होते। यहाँ तो कहा है, कि जिनदेव कथित जीवादि तत्त्वों को समझता नहीं और मिथ्यात्व-रागादि भावों का ही सेवन करता है, असत्य को सत्य मानता है और जिसके मान-ममतारूपी भूत लगा है, वह जीव शुद्ध तत्त्व का वेदन नहीं करता और अशुद्ध तत्त्व को ही शुद्ध मान लेता है। ऐसे मिथ्याभाव के सेवन को ज्ञानरूपी जन परमार्थ-मदिरापानरूप दोष कहते हैं। ऐसा मद्य दोष ज्ञानी के नहीं होता।

जिस प्रकार मदिरापान किया हुआ मनुष्य भान भूलकर विष्टा के ढेर पर पड़ा हो, तो उसे शुद्ध-अशुद्ध का कोई विवेक नहीं होता; उसी प्रकार जिसने मोहरूपी मदिरा का पान किया है, ऐसा अज्ञानी निज मान भूलकर अशुद्ध भावों में लिप्त होने से उसी रूप में ही अपने को अनुभवन करता है, किन्तु अपने शुद्ध चैतन्यभाव को वह नहीं जानता। ऐसे जीव भले ही श्रावक हों परन्तु जिनोक्त शुद्ध तत्त्व को नहीं जानते और मिथ्या ममता का वेदन करते हैं। वे निश्चय ही मद्यपान में लीन हैं।

अरे भाई! राग की मिठास के आगे अपने चैतन्य के मधुर स्वाद को तू भूल गया। तेरा स्वाद तो चैतन्यमय आनन्द से भरपूर है, उसे तू समझ। राग में अन्ध हुआ, राग को ही निज पद मानकर उसमें सोये अज्ञानी प्राणियों को समयसार के मन्त्र द्वारा आचार्यदेव ने जगाया है कि हे जीवो! तुम जागो... जागो और अपने निज पद को संभालो, राग तुम्हारा पद नहीं, तुम्हारा पद तो चैतन्यमय है, उस शुद्ध चैतन्य पद का तुम अनुभवन करो।

मिथ्या श्रद्धा, सात व्यसनों का मूल है

अहो, इस जगत में सर्वज्ञ वीतराग भगवान है, उन्होंने आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा उसे बताया है। ऐसी पहचान करनेवाले के मिथ्यात्वादि पाप नहीं रहते। और ऐसे जिनमार्ग की श्रद्धा जो नहीं करता और राग को धर्म मानकर राग की भावना करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव परभाव के सेवनरूप मदिरा पान करता है। धर्मी जीव तो चैतन्य के वीतरागी अमृत का पान करता है।

सर्वज्ञ को जो नहीं जानता, उसकी श्रद्धा तो उन्मत्तवत् है

भगवान कैसे हैं ? और भगवान ने क्या कहा है ? इसकी परीक्षा की जाए तो अपने भीतर राग और ज्ञान की भिन्नता का विवेक हो जाता है और जो ऐसा विवेक करे, उसने ही निश्चयरूप से जिनोक्त तत्त्व को जाना है। सिद्ध भगवान के तो शरीर अथवा भाषा का योग नहीं, अरिहन्तों के तेरहवें गुणस्थान में भाषा का योग बिना इच्छा के होता है अर्थात् पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ होने के पश्चात् भी जीव के वाणी का योग होता है और वह वाणी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश करनेवाली होती है। धर्मी जीव सर्वज्ञ को स्वीकार करके जिनवाणी की श्रद्धा करता है तथा अन्तर में उस जिनवाणी द्वारा बताये गये अपने सर्वज्ञस्वभाव को स्वीकार करता है। जो जिनदेव को न जाने, वह जिनवाणी को कहाँ से जानेगा ? और जो जिनवाणी को नहीं जाने, वह जीवादि अतीन्द्रिय वस्तु को कहाँ से जानेगा ? अतएव उसकी श्रद्धा तो उन्मत्त (पागल) जैसी है, वह किसी न किसी प्रकार स्व-पर की अथवा स्वभाव-विभाव को एक-दूसरे से मिलाकर मिथ्या श्रद्धा करता है, ऐसे जीव को जैन

श्रावक का सम्यक् आचार नहीं होता। ऐसे जीव के ज्ञान को तत्त्वार्थसूत्र में उन्मत्तवत् कहा है। सत्-असत् के सम्बन्ध में उसके कोई विवेक नहीं। शिकार, हिंसा, चोरी आदि में तो दुष्ट भावरूप तीव्र पाप है; किन्तु शुभ में रहकर जो मिथ्यात्व का सेवन करता है, आत्मा के सत्य स्वरूप को नहीं पहचानता, वह भी संसार के दुःख में ही पड़ता है। अरे! दुष्ट शिकारी के विश्वास से जाल में फँसकर पशु-पक्षी तो एक बार ही मरते हैं, परन्तु मिथ्याधर्मरूपी शिकारी के विश्वास से तो जीव परभाव के जाल में फँसकर अनन्त बार मरता है। अतः सर्वज्ञ मार्ग को पहिचान कर मिथ्या धर्म का सेवन छोड़ना चाहिए।

वीतराग मार्ग के नाम पर राग को धर्म बतलानेवाला धर्म का चोर

गाथा १३२ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि —

स्तेयं दुष्टप्रोक्तं च, जिनवचनं विलोपितं
अर्थ अनर्थ उत्पाद्यंते, स्तेयं व्रत खंडनं ॥१३२॥

जो जीव जिनवचन का विलोप करके वीतरागमार्ग से विरुद्ध प्रतिपादन करता है, वह जीव परमार्थ मार्ग का चोर है। अहो, वीतराग जैनमार्ग, यह तो सर्वज्ञ का मार्ग है, वह तो आत्मा के परम हित का मार्ग है। ऐसे वीतराग जैनमार्ग की प्ररूपणा करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी और वैरागी होता है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर सर्वज्ञ परमात्मा की धर्मपेढी चलाना है, उसे अज्ञानी नहीं चला सकते। सर्वज्ञ के उपदेश अनुसार जिसने आत्मस्वरूप जाना हो, अनुभव किया हो, वही सर्वज्ञ की पेढी में बोलने का अधिकारी है। इस प्रकार यदि मिथ्यादृष्टि प्ररूपणा करने लगे तो उसमें विपरीतता

आ जाएगी। अरे, जो राग से मोक्ष माने, राग को मोक्ष का साधन माने, उन्होंने वीतराग मार्ग को जाना नहीं, वे तो जिनवाणी के लोप करनेवाले वीतराग मार्ग के शत्रु हैं। उन्हें तो जन्मान्ध ही नहीं, भयंकर दोषवाले कहेंगे। क्योंकि जन्मान्ध पुरुष तो वस्तु को देखते ही नहीं किन्तु ये मिथ्यादृष्टि अन्धे पुरुष अर्थ को अनर्थरूप मानते हैं, वस्तु के स्वरूप को विपरीत देखते हैं। जो वीतरागता के बदले राग को धर्म मानते हैं, जो जड़ की क्रियाओं को चेतन की क्रियाएँ मानते हैं, वे सर्वज्ञ मार्ग के अपराधी हैं। मार्ग तो लुट नहीं सकता क्योंकि दूसरा नहीं है, परन्तु वे अज्ञानी मार्ग के बहाने कुमार्ग को सेवन करके संसार में भटकेंगे। बाहर में भले बड़ा सेठ साहूकार हो या अनेक शास्त्रों को पढ़ा हुआ पण्डित हो अथवा व्रतधारी त्यागी हो, परन्तु राग से धर्म माननेवालों को वीतराग मार्गी सन्त धर्म का चोर कहते हैं।

भाई! तूने धर्म की चोरी करके अधर्म को धर्म बताया। जैसे राजा के घर में प्रवेश करके कोई चोरी करे तो वह बड़ा चोर है, वैसे ही जैनधर्म में आकर जो राग को परमार्थ मोक्षमार्ग माने, वह पंच परमेष्ठी के घर में अर्थात् जैन शासन में बड़ा चोर है। जो परद्रव्य का ग्रहण करे, जो परद्रव्य को अपना माने, वह चोर है, अपराधी है। उसका फल जन्म-मरण का कारावास है। भाई! इस जन्म-मरण के कारावास से छूटना चाहते हो तो जिनवरदेव कथित मार्ग को पहचानकर उसका श्रद्धा करो।

कल्याण के लिये आत्मा का उत्साह

पहले तो ऐसे सारभूत अपने स्वतत्त्व को जानने का अन्तरंग में

उत्साह जागृत होना चाहिए कि धर्मात्मा सन्तों ने 'शुद्धात्मा... शुद्धात्मा' कहकर जिसके अपार गीत गाये हैं, वह वस्तु अन्तर में कैसी है? बारम्बार परिचय करके अन्तर में उसकी शोध करना चाहिए। सच्चे भाव से अन्तर शोध करें तो आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) अवश्य होगी। अहा! जिनोक्त वस्तुस्वरूप परम सत्य है, उसको समझना चाहिए। मेरा स्वतत्त्व क्या? और पर का क्या? उसको जैसा है, वैसा जानना चाहिए। पर की क्रिया, पर का उत्पाद-व्यय परिणाम अपना नहीं होता और अपनी उत्पाद-व्यय की क्रिया पर से नहीं होती। स्वभाव से ही प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी परिणमन क्रिया करती है। ऐसी स्वाधीनता समझने पर ही जीव का कल्याण है।

जिनोक्त शुद्ध तत्त्व का आचरण ही मोक्ष का कारण और उसकी विराधना दुर्गति का कारण

देखो, आत्मा की यह बात परम हितकारी हैं और (स्वयं) जीव है इसलिए जीव उसे समझ सकता है, इसलिए सन्तों ने उसका उपदेश दिया है। सर्वज्ञदेव की वाणी शुद्ध तत्त्व को बताती है, उसकी विराधना करनेवाला जीव दुर्गति में पड़ता है और उसकी आराधना करनेवाला अर्थात् उसमें कथित शुद्धतत्त्व का अनुभव करनेवाला जीव मोक्ष पाता है।

सर्वन्यं मुष वानी च, सुद्ध तत्त्व समाचरेत्।

जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भाजनं ॥१३३॥

दर्सनं न्यान चारित्रं अमूर्ति न्यानं संजुतं।

सुद्धात्मा तत्व लोपते, स्तेय दुर्गति भाजनं ॥१३४॥

—तारणतरण श्रावकाचार

सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रगट हुई वाणी में दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य स्वरूप अमूर्त-अतीन्द्रिय शुद्ध ज्ञानतत्त्व बताया गया है। ऐसे तत्त्व का सम्यक्पूर्वक आचरण करो अर्थात् अनुभव में लो। जो जीव ऐसे शुद्ध तत्त्व का आदर नहीं करता और उससे विपरीत मान्यता है, वह जीव जिनोक्त तत्त्व का लोप करता है, अर्थात् शुद्धात्मा का लोप करता है और दुर्गति में जाता है। परमार्थ मार्ग में वह चोर है।

भगवान की वाणी में तो सम्यक्त्वादि शुद्ध भाव को मोक्ष का कारण कहा है, उससे अन्यथा जो जीव रागादि अशुद्धभाव को मोक्ष का कारण मानता है, वह जिनवचन की विराधना करता है। जिन वचन की विराधना कहो या शुद्धात्मा की विराधना कहो—वह भव भ्रमणरूप दुर्गति का कारण है।

अज्ञानी को अपने शुद्ध तत्त्व का ज्ञान नहीं, राग से भिन्न चैतन्य के अस्तित्व की उसके भाषना नहीं, उससे उसकी वाणी भी सत्य नहीं। वह तो रागादि के अनुभव को मोक्ष का कारण मान लेता है। सर्वज्ञदेव को सम्पूर्ण ज्ञान है, अतीन्द्रिय महान ज्ञान के द्वारा उन्होंने समस्त तत्त्वों को प्रत्यक्ष जाना है, साथ ही तेरहवें गुणस्थान में उनमें से अनेकों के वाणी भी होती है। वह वाणी शुद्ध तत्त्व को प्रकाशित करती है। सर्वज्ञ होने पर किसी भी जीव को देह-वाणी का संयोग होता ही नहीं—ऐसा नहीं है। सर्वज्ञ अरिहंत जीवनमुक्त परमात्मा होने के पश्चात् भी उनके अमुक काल तक शरीर का संयोग भी रहता है और किसी के वाणी भी सर्वांग से निकलती है। अनेक सुपात्र जीव उस वाणी में कथित शुद्ध जीवादि तत्त्वों को जानकर शुद्धात्मा का आचरण करते हैं और मोक्षमार्ग का साधन करते हैं।

सर्वज्ञ के मुख से निकली वाणी क्या कहती है ?

वह जिनवाणी ऐसा कहती है कि अहो जीवो ! ज्ञान-आनन्दमय शुद्धात्मतत्त्व तुम स्वयं हो। उसको जानकर, उसका आचरण करो। ज्ञान के द्वारा ज्ञान का आचरण करना, यही सच्चा आचरण है और ऐसे आचरण के द्वारा केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा सम्यक् आचरण ही जिनवाणी का सार है। एक अखण्ड चैतन्य तत्त्व की अनुभूति ही सर्व तत्त्वों में श्रेष्ठ है। अन्तर के श्रद्धा-ज्ञान के द्वारा उसका आचरण करो, अनुभव करो। ऐसे अनुभवरूप वीतराग पर्याय ही श्रावक और मुनि के धर्म का आचरण है। उसके बिना अन्य लाख क्रियाओं से कभी धर्म या मोक्ष होता नहीं है। अतएव श्रावकपन या मुनिपन होता नहीं। छहढाला में पण्डित दौलतरामजी भी कहते हैं कि—

लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो।

तोड़ि सकल जग दंद फंद निज आत्म ध्यावो।

हे जीवो ! तुम संसार की अन्य सभी बातों के रस को छोड़कर इस चैतन्यतत्त्व को अन्तर से ध्यावो, उसको जानकर श्रद्धा में लो, अनुभव में लो—यही मोक्षमार्गी धर्मात्मा का आचरण है। अहो, आत्मा अरागी चैतन्यमय है, उसका आचरण तो चैतन्यमय, रागविहीन है, शुभराग को उसका आचरण कहना व्यवहार से है। श्रावक धर्मात्मा को आत्मा के अनुभव के उपरान्त जिनपूजा, स्वाध्यायादि का शुभराग होता है, उसमें जितनी रागविहीन शुद्ध परिणति है, उतना परमार्थ धर्म है और वही सच्चा मोक्षमार्ग है। श्रावक के भी भूमिका अनुसार ऐसा निश्चय धर्म होता है। श्रावक के अकेला

व्यवहार ही हो और निश्चय न हो, ऐसा नहीं है। भूमिका प्रमाण से दोनों साथ-साथ होते हैं। मुनि जितनी शुद्धता एवं वीतरागता श्रावक के भले ही न होती हो तो भी आठ कषायों के अभाव जैसी शुद्धता एवं वीतरागता तो उसके भी निरन्तर होती है—इसके बिना श्रावक का पंचम गुणस्थान नहीं हो सकता।

वीतराग गुरुओं ने अद्भुत आत्मवैभव बताया है

चैतन्य का वैभव परम अद्भुत है—उसकी अद्भुतता धर्मी जीव स्वसंवेदन से जानता है। जगत के पुण्य वैभव की जिसके पास कोई कीमत नहीं, ऐसा ज्ञान-आनन्द प्रभुता का वैभव आत्मा में भरा है। आत्मा के ऐसे अद्भुत वैभव का जिनवाणी ने प्रकाश किया है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार में पाँचवीं गाथा में कहते हैं कि अहो, हमारे गुरुओं ने हमारे ऊपर कृपा करके हमको शुद्धात्मतत्त्व का जो उपदेश दिया, उसके स्वसंवेदन से हमारे आत्मा का वैभव प्रगट हुआ है, जिनवाणी की उपासना से तथा अनेकान्तमय सम्यग्ज्ञान की युक्ति से ऐसा शुद्धात्मा का अनुभवरूप वैभव हमें प्रगट हुआ है। आत्मा का ऐसा आनन्दमय वैभव भीतर प्रगटे, यही जिनवाणी का सार है और यही वीतराग गुरुओं का प्रसाद है।

अहो! जिनवाणी की अद्भुत गम्भीरता ?

पहले अज्ञानदशा में अशुद्धता थी, फिर शुद्धात्मा के अनुभवी गुरु के पास से शुद्धात्मा का उपदेश पाकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान हुआ, वहाँ अशुद्धता हटकर शुद्धतारूप निज वैभव का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार इसमें उपादान-निमित्त आ जाता है; द्रव्य-गुण-पर्याय आ जाते हैं; उत्पाद-व्यय-ध्रुव आ जाते हैं तथा शुद्धता-

अशुद्धतारूप जीव का भाव अर्थात् नव तत्त्व भी सिद्ध हो जाते हैं। अहो! जिनवाणी बहुत गम्भीर है। एक-एक न्याय में वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण कर देती है और स्व-पर का ज्ञान कराके शुद्धात्मा का ज्ञान कराती है। ऐसे आत्मा को जानकर मोक्ष के साधन के रूप में व्रतादि सम्बन्धी राग आता है, किन्तु वह राग साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं; साक्षात् मोक्ष का साधन तो शुद्धात्मा की परिणतिरूप वीतरागता ही है।

अहो! ऐसा स्पष्ट मोक्षमार्ग बतानेवाली जिनवाणी का जो लोप करते हैं, जिनवाणी में बताये गये वीतरागमार्ग का जो लोप करते हैं और उसका विरोध करके विपरीत राग पोषक खोटी रचना करते हैं, वे जीव वीतराग मार्ग के चोर हैं और उससे संसार की दुर्गति में पड़ते हैं। वीतराग जिनवाणी के अनुसार जो मोक्षमार्ग का सेवन करते हैं, वे ही आनन्दमय मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मोक्षरूप सुगति प्राप्त कराने और संसाररूप दुर्गति छुड़ाने हेतु वीतराग सन्तों के उपदेश

मोक्ष तो सुगति-उत्तमगति है और समस्त संसार दुर्गति है। संसार की चारों गतियाँ जीव के विकारी भावों का फल है, इस कारण दुर्गति है। सिद्धगति सम्यक्त्वादि का फल है, वही उत्तम-अनुपम और ध्रुव रहनेवाली स्वभाव गति है, ऐसी गति को प्राप्त सिद्ध भगवानों को समयसार के मंगलाचरण में आचार्यदेव ने नमस्कार किया है, ऐसे सिद्ध प्रभु की प्रतीति भेदज्ञान का कारण है, इसलिए वह मंगल है।

जो जीव राग से भिन्न विलक्षण शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को

तो जानता नहीं, उसकी रुचि भी करता नहीं और व्यवहार से व्रतादिकों का पालन करके उनके शुभराग को ही मोक्ष का साक्षात् साधन मानकर उनसे प्रेम करता है तो वह जीव शुद्ध जिनमार्ग का विराधक है। श्री तारणस्वामी तो कहते हैं कि ऐसा जीव स्तेय का भागी है अर्थात् मोक्षमार्ग का वह चोर है। राग को मोक्षमार्ग माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीवों की मिथ्याश्रद्धा का जो अनुमोदन करता है, वह भी मिथ्यात्व का ही भागी होता है और संसार की दुर्गति में पड़ता है।

भाई! तेरे ऊपर करुणा करके तुझे संसाररूप दुर्गति से छुड़ाने और मोक्ष गति का मार्ग बताने हेतु वीतरागी सन्तों का यह उपदेश है। अरे जीव! आत्मा के शुद्ध भाव को जाने बिना, अनन्त काल से मात्र अशुभ या शुभराग करके तूने संसार की चार गतियों में भीषण दुःख पाया, अभी भी उससे छूटने का और मोक्ष सुख पाने का यह अवसर है, अतः आत्मा के स्वभाव का उत्साह करके उसको जान और अनुभव में ले।

भगवान ने सम्यक्त्वादि शुद्धभाव को शिवपुरी का पंथ कहा है

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी भव्य जीव को शिवपुरी का पन्थ बताते हुए भावप्राभृत की छठवीं गाथा में कहते हैं कि :—

प्रथम जानो भाव को तुम भाव बिन द्रवलिंग से।

तो लाभ कुछ होता नहीं पथ प्राप्त हो पुरुषार्थ से॥

‘हे शिवपुरी पंथ के पथिक! वीतरागभाव के बिना अकेले बाह्य दिगम्बर लिंग से तुझे क्या लाभ है? शुद्धभाव के बिना लिंग से मोक्षमार्ग का साधन नहीं होता, जिनवरदेव कथित मोक्षमार्ग तो

सम्यक्त्वादि शुद्धभावरूप प्रयत्न के द्वारा ही साध्य है, अतः प्रथम तू भाव को जान !'

अहा ! वास्तव में देखो तो आचार्यदेव ने भव्य जीव को कितना मधुर सम्बोधन किया है ! हे शिवपुरी पंथ के पथिक !—ऐसा कहकर बुलाया है । अरे भाई ! तुम तो शिवपुरी के मार्ग पर चलनेवाले हो न ? तो शिवपुरी का मार्ग शुद्धभाव के द्वारा ही साधा जा सकता है । अतएव प्रथम तू शुद्धभाव को जानकर उसका उद्यम कर । शुभराग के द्वारा या मात्र बाहर के मुनि भेष द्वारा शिवपंथ का साधन नहीं होता । तू अनादि काल से शुद्धभाव के बिना ही संसार में भ्रमण करता रहा । शुभाशुभभाव तो तूने अनन्त काल में अनन्त बार किया है, द्रव्यलिंग भी अनन्त बार धारण किया है परन्तु शिवपुरी का मार्ग तो अभी तक तेरे हाथ में नहीं आया, इसलिए अब तू समझ कि उससे भिन्न प्रकार का शुद्धभावरूप मोक्षमार्ग है । ऐसा जानकर ऐसे शुद्धभाव का तू उद्यम कर । आत्मा के स्वरूप को जानकर स्वसन्मुख परिणति ही शुद्धभाव है, वह ही शिवपुरी का उद्यम है । जिनेश्वरदेव इसी मार्ग से मुक्ति पाये हैं और जगत को भी उसी मार्ग का उपदेश दिया है ।

अरहन्त सब ही उस विधि से नष्ट कर कर्माश को ।

देकर तथाविध देशना मुक्ति गये हैं—नमन हो ॥

— प्रवचनसार, गाथा ८२

सम्यग्दर्शन मण्डित केवलज्ञान शुद्धभाव द्वारा ही राग द्वारा नहीं

पहले सम्यग्दर्शन शुद्धभाव है, मुनिपन भी शुद्धभाव है,

केवलज्ञान तो पूर्ण शुद्धभाव है। इन शुद्धभावरूप प्रयत्नों से ही मोक्ष का साधन होता है।

शुभाशुभ कषायभाव भी प्रयत्न तो कहलायेंगे परन्तु वे मोक्ष के प्रयत्न नहीं, वे तो संसार के प्रयत्न हैं। मोक्ष का प्रयत्न तो शुद्धभावरूप वीतरागभाव है—ऐसे भाव को हे भव्य! तू जान, तो तुझे शिवपुरी का पंथ हाथ लगेगा। शिवनगरी ही तेरा वास्तविक निवास स्थान है। आनन्दधाम तेरा चैतन्यतत्त्व है, उसमें तू जा... वह ही तेरा मार्ग है। प्रभु! तेरा तत्त्व तो तेरे अन्तर में होता है या शरीर अथवा राग में होता है? नग्न शरीर या राग में खोजा जाए तो वहाँ तुझे मोक्षमार्ग नहीं मिलेगा। उसमें तो संसार की चार गतियाँ मिलेंगी। मोक्ष के पंथ को तुझे शोधना हो तो भीतर शुद्धभाव में प्रयत्न के द्वारा शोध। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भगवान ने मोक्षमार्ग कहा है और वह तो आत्मा का शुद्धभाव है। दिगम्बर शरीर तो कोई आत्मभाव नहीं, वह तो अनात्मभाव है। राग भी कोई शुद्ध आत्मभाव नहीं, परमार्थ में वे सब अनात्मभाव हैं। सम्यक्त्वादि भाव शुद्ध आत्मभाव है और वही मोक्षमार्ग है। अरे जीव! एक बार तो तू ऐसे सत्य मार्ग को जान तो सही! तुझे महा आनन्दमय शिवपुरी का मार्ग हाथ में आ जावेगा।

भाई! तुझे मोक्ष साधन करना हो तो बाहर के साधन में या शुभराग में लालच न कर—उनको मोक्ष का साधन न मान ले। मोक्ष का साधन तो राग से पार, जड़ शरीर से पृथक्, अन्दर के शुद्ध चैतन्य भावरूप है। उसको जानकर तू उसका प्रयत्न कर। जिनदेव ने तो तुझे शिवपुरी का पंथ बता दिया है। अतएव हे शिवपुरी पंथ के पथिक! तू ऐसे मार्ग को जानकर प्रयत्न के द्वारा इस मार्ग में आ।

इस मार्ग से अल्प काल में ही तू शिवपुरी पहुँच जाएगा। राग के मार्ग से तो अनन्त काल चलते हुए भी शिवपुरी तेरे हाथ में नहीं आयी और तू संसार में ही बना रहा। अतः वह शिवपुरी का पंथ नहीं। शिवपुरी का पंथ जिनदेव ने देखा है और स्वयं अनुभव किया है— यह शुद्धभावरूप है। शुद्धोपयोग प्रसिद्ध शिवमार्ग है, उसको जानकर प्रयत्न के द्वारा तू इस शिवपुरी पंथ में आ।

आत्मा के चैतन्य भाव की मिठास को जो नहीं जानता, वह बाह्य विषयों में मिठास मानकर पुण्य का उत्साह करता है

अहा! चैतन्य तत्त्व स्वयमेव आनन्दस्वभाववाला है, उसके आनन्द के लिये बाह्य विषयों के पुण्य फल निरर्थक हैं। अपने चैतन्य सुख का अस्तित्व जिसे नहीं भाता, वह ही बाहर के विषयों में और उनके कारणरूप पुण्य में तथा राग में सुख मानकर हर्षित होता है। तारणतरण-श्रावकाचार, गाथा १४२ में कहते हैं कि —

विषयं रंजितं येन अनृतानंद संजुतं।

पुण्यसद्भावं उत्पादी, दोषं आनंदनं कृतं ॥१४२ ॥

पुण्य में जिसका परिणाम रंजित है, वह निःसन्देह विषय से रंजित है। अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों में रंजायमान है, वे मिथ्याभावों में अर्थात् असत् में आनन्द मानकर रौद्रध्यानसहित वर्तते हैं और पुण्य करने में उत्साही होकर वर्तते हैं, इस प्रकार संसार के कारणरूप दोष में प्रसन्न होकर, उसमें तन्मय हो जाते हैं। विषयों का लोभी मोक्षमार्ग को भूलकर पुण्य कर्म करने में बड़ा ही उत्साही हो जाता है।

चैतन्य को भूलकर, मिथ्याभावों में तथा रागादि के अथवा पुण्य

फलरूप इन्द्रिय विषयों में उत्साह तो परमार्थ में रौद्रध्यान है। जिसको राग विहीन चैतन्य भाव का उत्साह नहीं आता और पुण्य में—राग में जिसको उत्साह आता है, वह जीव असत् में आनन्द माननेवाला रौद्रध्यानी है। पुण्य तो संसार का कारण होने पर भी जो उसमें प्रसन्न होकर लीन होता है परन्तु मोक्ष के सच्चे वीतराग मार्ग को वह समझता ही नहीं, समझने को मिले तो उसे स्वीकार नहीं करता, उसमें उत्साह नहीं करता।

ज्ञान गुण है; राग (पुण्य) दोष है

अरे जीव! ज्ञान तो तेरा गुण है और पुण्य / राग दोष है। ज्ञानगुण में पुण्य का राग समाविष्ट नहीं होता। जिस प्रकार आँख में कण समाता नहीं, उसी प्रकार तेरे ज्ञान चक्षु में राग का कोई कण समा नहीं सकता। पुण्य के राग का जिसको उत्साह है, उसको चैतन्य गुण का उत्साह नहीं होता, परन्तु दोष का उत्साह होता है। भाई! आत्मा का पवित्र स्वभाव राग विहीन शुद्ध है, उसका तू उत्साह कर। यह तो जिनेश्वरों का वीतराग मार्ग है, इसमें राग की गड़बड़ी नहीं चलेगी। वीतराग मार्ग में राग का प्रवेश चाहे, ऐसी जबरदस्ती जैनशासन में नहीं चल सकती। ज्ञानभाव राग के कोई कण को भी बरदाश्त नहीं करता, अपने में स्वीकार नहीं करता। ज्ञान तो संवर-निर्जरा है और राग, आस्रव-बंध है। अज्ञानी कोई शुभराग करे तो उसमें प्रसन्न और उत्साही होकर ऐसा मानता है कि मैं धर्म में बहुत आगे बढ़ गया हूँ। शुभराग को वह अच्छा काम मान लेता है, परन्तु राग विहीन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव, कि जो निःसन्देह अच्छे हैं, उत्तम कार्य हैं, उन्हें तो वह समझता नहीं,

उल्टा उनके ऊपर अश्रद्धा करता है। भाई! मोक्ष के हेतु अच्छा उत्तम काम तो ज्ञान का अनुभव है, उसमें वीतरागता है और वह मोक्ष का कारण है। राग मोक्ष के हेतु अच्छा कार्य नहीं है, कर्तव्य नहीं है; राग तो संसार का कारण है —

इससे न करना राग किंचित् कहीं भी मोक्षेच्छु को।
वीतराग होकर इस तरह वह भव्य भव सागर तरे ॥

— पंचास्तिकाय १७२

अतएव हे भव्य मुमुक्षु! तू ज्ञान का उत्साह कर और राग का उत्साह छोड़।

जीव उपयोग लक्षणः

अब धर्म का स्वरूप क्या है? यह बात श्री तारणस्वामी गाथा १६८ में कहते हैं।

शुद्ध धर्म च प्रोक्तं च चेतना लक्षणो सदा।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्म कर्म विमुक्तयं ॥१६८ ॥

आत्मा का स्वभाव सदैव शुद्ध चैतना लक्षणरूप है, उस चेतना को ही शुद्ध धर्म भगवान ने कहा है। उसमें रागरूप भावकर्म नहीं, जड़कर्म भी नहीं। इस प्रकार कर्म से विमुक्त चेतनास्वरूप में आत्मा का चिन्तन करना—अनुभव करना ही शुद्ध धर्म है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखने पर, सभी आत्मा सदा शुद्ध चेतना लक्षण सम्पन्न हैं। ऐसे आत्मा के अनुभवरूप चेतना धर्म मोक्षमार्ग है। रागादि विकल्प में चेतना नहीं और चेतना में कोई रागादि नहीं। रागादि आत्मा के स्वलक्षण नहीं। राग विहीन आत्म-अनुभव सम्भव है, किन्तु चेतना विहीन आत्म-अनुभव सम्भव नहीं। इस प्रकार

स्पष्ट भेदज्ञान करके, राग से भिन्न परिणमित जो ज्ञानचेतना हो, उसके द्वारा आत्मा लक्ष्य में आता है और वह चेतना ही आत्मा का लक्षण है। ऐसे स्वधर्मरूप लक्षण से आत्मा लक्षित होता है, ऐसा जिनशासन में सर्वज्ञदेव ने कहा है। 'जीव उपयोग लक्षणः'।

चेतना, आत्मा का वास्तविक स्वभावभूत धर्म है। रत्नत्रय धर्म का लक्षण भी चेतना ही है। चेतना के अनुभव में रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग समाहित है। मुक्ति तो सर्व कर्म से अथवा सर्व राग से रहित चैतन्य दशा है, उस मुक्ति का उपाय भी शुभाशुभराग के बिना अथवा जड़ कर्म के सम्बन्ध के बिना शुद्ध चैतन्यभाव है। शुद्धनय से आत्मा का स्वभाव सर्व कर्म से विमुक्त उपयोगस्वरूप है, उसको समझकर उसमें एकाग्र होने से जो शुद्ध सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रगट हुआ, वही मोक्षमार्ग है। उसी को शुद्ध चेतना भी कहते हैं। ऐसा धर्म कर्मों से छूटने का मार्ग है। शुद्धात्मा की उपासना का ऐसा अलौकिक वर्णन समयसार में है। अहो, समयसार में तो बहुत गम्भीरता है, हजारों शास्त्रों का निचोड़ समयसार में भरा है। श्री तारणस्वामी ने भी उसके मनन से बारम्बार शुद्धात्मा की भावना भायी है—

धर्म च आत्म धर्म च, रत्नत्रयं मयं सदा ।

चेतना लक्षणो येन, ते धर्म कर्म विमुक्तयं ॥१६३॥

— तारण तरण श्रावकाचार

मोक्ष के मार्गरूप जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे तीनों शुद्ध चेतनारूप है; रागरूप नहीं अथवा देह की क्रियारूप नहीं। ऐसा रत्नत्रयरूप शुद्ध चेतना आत्मा का धर्म है, आत्मा का स्वभाव है।

चेतना को रत्नत्रय धर्म का लक्षण कहा है, परन्तु राग का लक्षण नहीं कहा, राग का तो उसमें अभाव है। अतः रत्नत्रय में किञ्चित् मात्र राग नहीं आता, रत्नत्रय बिना राग का है और वही मोक्ष का साधन है। ऐसा बिना राग का रत्नत्रय ही महावीर-भगवान का वीतराग मार्ग है। उस मार्ग से मोक्ष प्राप्त होता है।

देखो, मोक्षमार्ग में रत्नत्रय को रागविहीन लिया है और उसकी चेतना को धर्म कहा है। व्यवहाररत्नत्रय में जो राग का भाग है, वह चेतना का धर्म नहीं, राग आत्मा का स्वभाव नहीं परन्तु बन्ध का स्वभाव है, वह तो कर्मों का बाँधनेवाला है, वह जीव को कर्मों से छुड़ानेवाला नहीं और चेतनारूप रत्नत्रय धर्म तो कर्मों से विवर्जित है। पूजा-दान आदि के शुभराग को व्यवहार धर्म कहते हैं किन्तु मोक्ष का कारणरूप परमार्थ धर्म वह नहीं, परमार्थ धर्म तो रागरहित है। ऐसे रागरहित रत्नत्रय की आंशिक आराधना धर्मी श्रावक के भी होती है।

रत्नत्रय धर्म कहो, आत्मधर्म कहो, चेतना लक्षण कहो, मोक्षमार्ग कहो या वीतराग भाव कहो—सभी एक है, उसमें राग कहीं भी आता नहीं और राग में इनमें से कोई आता नहीं। अतएव राग रत्नत्रय धर्म नहीं, राग आत्मधर्म नहीं, राग चेतना लक्षण नहीं, राग मोक्षमार्ग नहीं। अनन्त गुणों की अगाध शक्ति चेतना में है, राग में ऐसी कोई शक्ति नहीं। जैन शासन में त्रिकाल में ऐसा स्वरूप समझो। भरत में, ऐरावत में या विदेहक्षेत्र में सदैव ऐसा चेतना लक्षणरूप आत्मधर्म है, उसमें रत्नत्रय गर्भित है और वही मोक्षमार्ग है; अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं। ऐसे मार्ग को हृदयंगम कर चेतना के अनुभव की निरन्तर भावना करने योग्य है। ●●

[२०]

बीसवाँ प्रवचन

श्रावक के भी आत्मध्यान होता है।
धर्म का प्रारम्भ आत्मा के निर्विकल्प ध्यान से ही होता है।

ज्ञानी ज्ञान पिण्ड आत्मा का स्वात्म चिन्तन करता है

श्री तारणस्वामी रचित श्रावकाचार में से कितनी ही गाथायें वांची हैं, उसमें शुद्धात्मतत्त्व की भावना की मुख्यता है। धर्मी जीव ध्यान में कैसे आत्मा को ध्याता है? यह बात कहते हैं:—

पिंडस्तं न्यान पिंडस्य, स्वात्मचिंतन सदा बुधैः।

निरोधनं असत्य भावस्य, उत्पाद्यं सास्वतं पदं ॥१८३॥

आत्म सद्भाव आरक्तं, पर द्रव्यं न चिंतये।

ज्ञानमयो ज्ञान पिंडस्य, चेतयन्ति सदा बुधैः ॥१८४॥

देखो! यह धर्मी के ध्यान का ध्येय! पिण्ड अर्थात् शरीर, उसमें रहनेवाले आत्मा का ध्यान, यह पिण्डस्थ ध्यान है। श्रावक के भी ऐसा ध्यान होता है। अपने अन्तर में देह से भिन्न ज्ञान-पिण्ड आत्मा का उसने अनुभव किया है और उसको वह ध्याता है, उसके ध्यान ने रागादि सम्बन्धी असत् भावों का निरोध होता है और शाश्वत् पद का उत्पाद होता है। अतएव बुधजनों को परद्रव्य का चिन्तन नहीं करना चाहिए, किन्तु सद्भावरूप ऐसे ज्ञानपिण्ड आत्मा के चिन्तन में आशक्त होना चाहिए, लीन होना चाहिए।

देखो! यहाँ श्रावक को भी स्वात्म-चिन्तनरूप निश्चय धर्मध्यान का उपदेश दिया गया है। श्रावक के निश्चय धर्मध्यान नहीं हो, ऐसा नहीं है। श्रावक के भी कभी-कभी निर्विकल्प ध्यान होता है। श्रावक के ध्यान में स्वात्मचिन्तन करने योग्य है, ऐसा कहा है; अतएव स्वात्मा क्या वस्तु है, इसकी पहचान हो जाए तो ही उसमें उपयोग को एकाग्र करके उसका चिन्तन हो सकता है। पहचान के बिना एकाग्रता किसमें करोगे? 'स्व आत्मचिन्तन' करने को कहा है, अतः स्व से भिन्न अन्य आत्माएँ भी हैं, ऐसा इसमें आ गया। जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अपना आत्मा अलग है, उसको लक्ष्य में लेकर उसमें उपयोग को एकाग्र करते हुए अतिशय आनन्द वेदन सहित निर्विकल्प ध्यान होता है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में तो कभी-कभी और मुनि के बारम्बार ऐसा ध्यान होता है। सम्यग्दर्शन भी ऐसे ध्यानपूर्वक ही प्रगट होता है। ज्ञानपिण्ड आत्मा को स्वानुभव से पहले जाना, तभी तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ, उसके पश्चात् दो चौकड़ी के अभावपूर्वक अन्तर शुद्धता बढ़ी, तब पाँचवें गुणस्थान में श्रावकपना हुआ। स्वात्म चिन्तन का बारम्बार प्रयोग ही श्रावक का मुख्य निश्चय आचार है।

निश्चय ध्यान में ध्येय स्व आत्मा है, पर आत्मा नहीं

अरिहंत एवं सिद्ध परमात्मा का शुद्ध आत्मा भी ध्यान का ध्येय कहलाता है, किन्तु वह व्यवहार ध्यान है, तथा उनके जैसे अपने शुद्धात्म का ध्यान करना परमार्थ ध्यान है। परमार्थ ध्यान का विषय 'स्व आत्मा' है। अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा भी इस आत्मा की

अपेक्षा से पर-आत्मा हैं, अतएव निश्चय ध्यान में उनका लक्ष्य नहीं है, उनके जैसे अपना परमार्थ शुद्ध आत्मा ही निश्चय धर्मध्यान में ध्येयरूप है।

- चैतन्य पिण्ड निज आत्मा धर्मी के ध्यान का ध्येय है।
- ज्ञान की एकाग्रतारूप परिणमित आत्मा ध्याता है।
- अन्तर में अभेद परिणतिरूप उपयोग की क्रिया ध्यान है।
- वीतरागी निर्विकल्प आनन्द का वेदन ध्यान का फल है।

यह सब [ध्येय-ध्याता-ध्यान और उसका फल] एक अपने आत्मा में ही समाता है, अन्य के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता है। सर्वज्ञदेव के मार्ग में ही ऐसा ध्येय-ध्याता-ध्यान एवं ध्यान का फल यथार्थ बताया है। उसको जानकर धर्मी जीव स्व-आत्म चिन्तनरूप ध्यान करता है। जिनमत के अतिरिक्त अन्यमत में वास्तविक ध्यान नहीं होता है। वस्तु को सर्वथा क्षणिक माने, उसके उपयोग की एकाग्रतारूप ध्यान नहीं होता। बहुत होकर भी एक अद्वैत आत्मा माने; उसके अपने पृथक् आत्मा का ध्यान नहीं होता। ईश्वर को जगत का कर्ता माने, उसके स्वात्मा का चिन्तन नहीं होता। आत्मा को सर्वथा नित्य माने तो उसके भी पर से उपयोग हटाकर स्व में उपयोग लाना नहीं होता। इस भाँति आत्मा का वास्तविक ध्यान अरिहन्त देव के वीतराग अनेकान्त मार्ग में ही है और ऐसे ध्यान से ही वास्तविक श्रावकपन प्रगट होता है। अहा! जैन श्रावक की दशा बहुत ऊँची है, धन से भले ही गरीब हो, पद से भले ही छोटा हो (परन्तु) स्वर्ग के इन्द्र के द्वारा वह पूज्य है। सामायिक के समय तो श्रावक को भी 'मुनि सदृश' रत्नकरण्ड-

श्रावकाचार में कहा है। उसके अन्तर में आठ कषायों के अभावरूप शान्तरस की धारा निरन्तर बहती है, अशुभ परिणाम के समय वह शान्तरस की धारा टूटती नहीं; अतएव अशुभ का रस अतिशय मन्द होता है। अरे! धर्मी की दशा समझना जगत को बहुत कठिन है।

अचिन्तय चैतन्यस्वरूप की महिमा लक्ष्यगत करके अन्तरंग में बारम्बार प्रयोग द्वारा जब अपने आत्मा में ही उपयोग को एकाग्र करके आत्मा अपने ध्यान पर्यायरूप में परिणमित हुआ, तब वह पर्याय अनन्त गुणों के धाम में प्रवेश करके उसमें लीन हो गयी, वहाँ 'यह ध्यान और यह ध्येय'—ऐसा भेद नहीं रहा, ध्यान और ध्येय दोनों अभेद हो गये। अनन्त गुण के स्वाद का वेदन उसमें एक साथ वर्तता है, परम शान्तरस की चैतन्य धारा उल्लसित होती है। अहा, उस समय के आनन्द वेदन की क्या बात!

जो अनन्त गुण धाम आतमराम को जानता है, उसके ही ऐसा ध्यान होता है। अनन्त गुणों का स्वीकार सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं होता नहीं। परद्रव्य के चिन्तन में राग है, निःसन्देह धर्मध्यान स्वद्रव्य के चिन्तन में एकाग्रतारूप है। बुधजन सदैव अपने अन्तर में ज्ञान पिण्ड आत्मा को ही अपने ध्यान का ध्येय बनाते हैं। परद्रव्य के चिन्तन को दीर्घकाल तक चित्त में रखते नहीं। विकल्प हो, पर का विचार हो, उसे धर्मी जीव उपादेय नहीं समझता अर्थात् मोक्ष के लिये वह उपादेय नहीं मानता। उसको मोक्ष का साधन नहीं मानता किन्तु असार समझता है और वहाँ से चित्त को हटाकर स्व में स्थिर करता है। चैतन्यतत्त्व में चित्त को जोड़ने से समस्त असार भावों का निरोध हो जाता है और सारभूत शाश्वत्

मोक्ष पद की उत्पत्ति होती है। उसका आत्मा तो वही रहता है, ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव ध्यान में आ जाता है।

राग से भिन्न आत्मा को पहचाने-उसके ही वास्तविक ध्यान और सामायिक होती है।

ऐसा ध्यान कौन करता है ?

वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव को जो मानता हो, अपने अन्तर में चैतन्य पिण्ड को जानता हो, वही उसका ध्यान करता है। ईश्वर को कर्ता मानकर ईश्वर का ध्यान करे, उसके अपने आत्मा में स्थिरता तो रही नहीं, अपने स्वात्मतत्त्व को वह जानता नहीं, ऐसे अज्ञानी के वास्तविक आत्मज्ञान होता नहीं, तथा आत्मध्यान बिना धर्म या मोक्षमार्ग का वास्तविक आनन्द आता नहीं, उसके तो असत् का चिन्तन एवं राग-द्वेष में ही लीनता होती है। 'सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद'... आदि सामायिक पाठ बोला जाए और भावना भावे किन्तु अन्तर में राग-द्वेष रहित समभावरूप आत्मा के वीतराग स्वभाव को जाने नहीं; चिन्तवे नहीं तो उसकी सच्ची सामायिक (अर्थात् मोक्ष की कारणरूप सामायिक नहीं कहते)। राग में तल्लीन अज्ञानी के सामायिक की शूरीरता होती नहीं, वह तो मन्दराग में ही सन्तुष्ट हो जाता है। समयसार की १५४वीं गाथा में उसे क्लीब कहा है, क्योंकि कर्मचक्र के पार उतरने में वह नपुंसक है। अहो, सामायिक तो शुभाशुभ सर्व कर्म से रहित आत्मलाभरूप है, उसमें तो ज्ञान का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप परिणमन है और वह मोक्ष का कारण है। ऐसे मोक्ष कारणरूप सामायिक को नहीं जाननेवाले अज्ञानी संसार के कारण को ही सेवन करते हैं।

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्ष का ।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का ॥१५४॥

— समयसार

श्री तारणस्वामी भी कहते हैं कि—

अनेक पाठ पठनंते, वंदना श्रुत भावना ।
सुद्ध तत्त्व न जानंते, सामायिक मिथ्या मानते ॥३१४॥

अनेक पाठों का पठन, वन्दना, श्रुत भावना आदि करते हुए भी शुद्ध तत्त्व को जो नहीं जानता, उसके सच्ची सामायिक नहीं होती अर्थात् उसके मिथ्या सामायिक होती है। अकेले शुभ राग को जिनमार्ग में सच्च सामायिक नहीं कहते। शुभराग मोक्षमार्ग का पहला चरण नहीं; मोक्षमार्ग का पहला चरण तो सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान है।

भले ही जिन वन्दना, श्रुत पठन, मुनि को आहारदान आदि शुभ विकल्प करें, किन्तु उस राग से भिन्न चैतन्य पिण्ड शुद्ध तत्त्व को जो जाने नहीं तो वह जीव संसार के मार्ग में ही खड़ा है, वह मोक्षमार्ग में एक कदम भी आया नहीं, वह विषम भाव में वर्तता है, वीतराग समभावरूप सामायिक उसकी नहीं होती। सामायिक में तो अतीन्द्रिय शान्तरस है। एक क्षण की सामायिक अल्प काल में मोक्ष फल देती है। आहा! ज्ञान-आनन्द के अपूर्व स्वाद से परिपूर्ण चैतन्य तत्त्व मैं हूँ—ऐसे परमात्मस्वरूप अपने को ध्याते हुए जीव मोक्षमार्ग में आनन्द का कदम बढ़ाता हुआ अविनाशी आनन्द पद को पाता है और रागादि असत् भावों से छूट जाता है। ऐसी सामायिक का नाम भी जैनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ है? ऐसे जैनशासन

की तुलना अन्य किसी के साथ नहीं हो सकती। जैनमत को और अन्यमत को जो समान मानते हैं (अथवा भगवान महावीर को और अन्य पुरुषों को जो समान मानते हैं) वे जैनमार्ग में बड़ा अन्याय करते हैं। अरे! कहाँ जैन का सर्वज्ञ पद! और कहाँ अज्ञानियों का मिथ्या मत! दोनों का प्रकार ही अलग; इनका मिलान नहीं हो सकता। अतएव हे भाई! अन्यत्र जहाँ-तहाँ भटकना छोड़कर, सर्वज्ञ के जिनागम में अनन्त गुण के पिण्ड आत्मा के जैसा कहा है, वैसा जानकर उसका ध्यान कर, परद्रव्य का अथवा पुण्य-पाप का ध्यान नहीं कर। अपने सत् स्वरूप में लीन हुए आत्मा के परद्रव्य की चिन्ता रहती नहीं; इसलिए उससे सम्बन्धित राग-द्वेष भी होते नहीं, वहाँ वीतरागी शान्ति की वेदनरूप सामायिक होती है।

रूपातीत ध्यान में ध्येय सिद्ध समान निजात्मा है।

श्री तारणस्वामी रूपातीत ध्यान कैसा होता है, सो कहते हैं:—

रूपातीत व्यक्त रूवेन, निरंजनं न्यान मयं ध्रुवं।

मति श्रुत अवधि दिष्टं, मनपर्जय केवलं ध्रुवं ॥१८८॥

अनंत दर्सनं न्यानं, बीर्जं नंत सौव्ययं।

सर्वन्यं सुद्ध द्रव्यार्थं, सुद्ध संमिक दर्सनं ॥१८९॥

— तारण तरण श्रावकाचार

सिद्धपरमात्मा के इन्द्रियातीत गुणों को लक्ष्य में लेकर ध्यान करने से और उसके पश्चात् अपने आत्मा में भी वे ही गुण हैं, उनका ध्यान करने से अतिशय सहित चिन्मात्र भाव प्रगटता है। अतः ध्येय और ध्याता का भेदभाव न रहे, ऐसा आनन्दमय रूपातीत ध्यान होता है।

रूपातीत अर्थात् रूपरहित, शरीररहित। जैसे सिद्ध भगवान हैं, मैं भी उनके जैसा ही शक्तिरूप हूँ—इस प्रकार अपने आत्मा का ध्यान निश्चय से रूपातीत-ध्यान है। ज्ञानी के (मुनि के या श्रावक के) ऐसा ध्यान होता है।

नियमसार में कहते हैं कि —

हैं सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।

गुण आठ से हैं अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं ॥४७॥

सिद्ध के और इस आत्मा के स्वरूप में निश्चय से कोई भेद नहीं है। रूपातीत ध्यान में अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि गुण सम्पन्न शुद्ध आत्मा अपने ध्येयरूप है, 'ऐसा मैं हूँ' ऐसा धर्मी साक्षात् अनुभव करता है। व्यवहार से पर्याय में अशुद्धता और कर्म का सम्बन्ध होते हुए भी शुद्धात्म-अनुभूति में कर्म का सम्बन्ध या अशुद्धता नहीं झलकती, वह अभूतार्थ होने से अनुभूति से बाहर रह जाती है। आत्मा के ज्ञान की मति-श्रुत आदि जो पाँच अवस्थाएँ हैं, उसमें तन्मयपूर्वक एकरूप आत्मा ही है, राग उसमें तन्मय नहीं। इसमें समयसार (गाथा २०४) में कहते हैं कि—ज्ञान की वे पर्यायें अभेद एक ज्ञानस्वभाव का ही अभिनन्दन करती हैं। पाँच पर्यायें अभेद को तोड़ती नहीं, किन्तु अभेद में ढलकर, उसको पुष्ट करती हैं, उसमें तन्मय होकर, उसका अभिनन्दन करती हैं। ज्ञान की कोई पर्याय राग में ढलती नहीं, राग को पुष्ट करती नहीं, राग में तन्मय होती नहीं या राग का अभिनन्दन करती नहीं। अहा! कितना स्पष्ट भेदज्ञान कराया है। हे भाई! ऐसा ज्ञान पद ही तेरा निज पद है, उस ज्ञानस्वभाव का एकमात्र ध्यान कर—

इसमें सदा रतिवन्त बन इसमें सदा सन्तुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६ ॥

— समयसार

श्री तारणस्वामी के साहित्य में भी स्थान-स्थान पर समयसार की ही झन्कार है। समयसार में समस्त जैनशासन भरा है।

मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से ही आत्मध्यान होता है

आत्मा का स्वरूप समझने के लिये ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का पिण्ड आत्मा है, ऐसा गुण-गुणी के भेद से कथन आता है किन्तु सम्यग्दर्शन के अनुभव में कहीं यह ज्ञान—यह आनन्द—ऐसा भेद रहता नहीं, अनन्त गुणों का स्वाद एकरसरूप उस अभेद अनुभव में समा जाता है। ऐसा जो शुद्ध आत्मा पदार्थ है, वह ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। ऐसे आत्मा का अनुभव और स्वात्म ध्यान चौथे गुणस्थान से होता है। 'स्वात्म ध्यान' यह तो कोई जाने कि कोई बड़े ऊँचे गुणस्थान की बात होगी, तो ऐसा नहीं है, धर्म की बिल्कुल प्रारम्भिक भूमिका में (अर्थात् चौथे गुणस्थान के प्रारम्भ में) ही ऐसा निर्विकल्प स्वात्म ध्यान होता है। श्रावक का आचार या मुनि का आचार तो उसके पश्चात् जब बहुत शुद्धता बढ़ती है, तब होता है। ऐसे आत्मध्यान के द्वारा ही मोक्षमार्ग खुलता है, और धर्म का प्रारम्भ होता है।

परमात्मा के ध्यान में यह जीव परमात्मा होता है। कैसा परमात्मा ? बाहर का नहीं, भीतर का। अहो! एक-एक आत्मा परिपूर्ण परमात्मा है, मेरा परमात्मपन मेरी शान्ति में भरा है—ऐसे श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक निज आत्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

उसके लिये दूसरे परमात्मा का ध्यान नहीं करना पड़ता। दूसरे के ध्यान से परमात्मपना होता नहीं, किन्तु शुभराग होता है। ध्यान के समय धर्मी अपने सर्वज्ञस्वभाव से अनुभव करता है कि वह कोई असत् नहीं है, किन्तु सत् है और वह सत् होने से उसके फल में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। यदि वह असत् होता तो उसके फल में आनन्द आता नहीं। एकीभाव स्तोत्र में वादिराज स्वामी ने यह सरस बात कही है।

सम्यग्दर्शन हुआ—वहाँ जीव पंच परमेष्ठी की श्रेणी में बैठा

इस प्रकार अपने आत्मा को परमात्म सम्बन्धी (आत्ममानं परमात्मानं) ध्येय में लेना, दृष्टि में लेना, अनुभव में लेना—यह निश्चयसम्यग्दर्शन है। यह श्रावक का मूल आचार है। ऐसे सम्यक्त्व सहित जीव अत्रती हो तो भी वह मोक्षमार्ग में है। मुनिराज तो महामोक्षमार्गी है और अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ (भले जघन्यरूप हों तो) भी मोक्षमार्गी है। और उनका सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय है। अहो! सम्यग्दर्शन की महिमा लोकोत्तर है। गृहस्थ आठ वर्ष का बालक होने पर भी जहाँ उसे सम्यग्दर्शन और आत्मभान हुआ, वहाँ वह जीव मुनिवरों की भाँति मोक्षमार्ग में बैठा। ध्यानस्थ मुनिवर तो उत्तम मोक्षमार्गी, श्रावक मध्यम मोक्षमार्गी और अत्रती समकित्ती जघन्य मोक्षमार्गी हैं। व्यवहार से उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसा भेद होते हुए भी तीनों मोक्षमार्ग की ही पंक्ति में हैं। (तीनों शिवमगचारी छहढाला, तीसरी ढाल)। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि को भी भगवान ने मोक्ष के मार्ग में स्वीकार किया है।

समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह बात कही

है—गृहस्थी मोक्षमार्गस्यो निर्मोहो.... इत्यादि।

अहा! सम्यग्दर्शन हुआ, वह जीव पंच परमेष्ठी की पंक्ति में बैठा। सम्यग्दृष्टि प्रसिद्ध मोक्षमार्गी है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन प्रसिद्ध है—मुख्य है—प्रथम है। उसके बिना मोक्षमार्ग होता नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितना शुभराग या बाह्यत्यागीपना हो तो भी जैनशासन उस जीव को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही बड़ा कुलिंग (अधर्म) है। मिथ्यात्वसहित जीव में धर्म का चिह्न अथवा मोक्षमार्ग का लिंग (चिह्न) नहीं होता। सम्यग्दर्शनरूप चिह्न जहाँ होता है, वहाँ ही मोक्षमार्ग होता है; उसके बिना मोक्षमार्ग होता नहीं।

सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त जब मुनिदशा प्रगट होती है, तब बाहर में भी उसका अबिनाभावी नग्न दिगम्बरदशारूप जिनलिंग होता है। जहाँ वस्त्र का एक टुकड़ा भी रखने की वृत्ति हो, वहाँ श्रावकदशा की ग्यारह प्रतिमा हो सकती है, किन्तु मुनिदशा नहीं हो सकती। भाई! ऐसा ऊँचा मुनिधर्म तुम न पाल सको तो तुम श्रावक धर्म पालो, किन्तु मार्ग के विपरीत नहीं चलो और न मानो। यदि मार्ग के विपरीत मानोगे तो अनन्त सन्तों का अनादर हो जाएगा और संसार भ्रमण में तुम दुखी होओगे। सत्य धर्म की श्रद्धा रखकर अपने सम्यग्दर्शन को तो बनाये रखो। सम्यग्दर्शन हो जाए, तब ही जिनशासन में हैं, भगवान के मार्ग में हैं, इस प्रकार सम्यग्दर्शन जैन श्रावक का प्रथम चिह्न है। ●●

[२१]

इक्कीसवाँ प्रवचन

जैन श्रावक का मूलधर्म : सम्यग्दर्शन
 एवं
 उसकी भूमिका में षट् आवश्यकतादि
 की सुसंगतता

जैन श्रावक का धर्म

शुद्ध धर्म कहो या मोक्ष का मार्ग कहो, उसका मूल सम्यक्त्व है। सम्यग्दृष्टि जीव के आहारदानादि चार प्रकार का पात्र दान, रत्नत्रयवन्त गुणीजनों की पूजा, रात्रि भोजन का त्याग आदि आचरण होते हैं। श्रावकाचार में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

संमित्तं सुद्ध धर्मस्य, मूल गुणस्य उच्यते।

दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं ज्ञानंमयं ध्रुवं ॥१९८॥

दर्शन न्यान चारित्रं, विसेषितं गुण पर्जयं।

अनस्तमितं सुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं ॥२००॥

दानादि का अकेला व्यवहार आचार तो अज्ञानी भी करता है, यहाँ तो सम्यक्त्वसहित व्यवहार की बात है। जिसको आत्मा के शुद्ध धर्म को श्रद्धा है, ऐसे धर्मी श्रावक के आठ मूलगुण होते हैं। जिसमें मद्य-माँस-मदिरा का सम्बन्ध होता है, ऐसी वस्तुओं की

औषधि का त्याग भी नियमपूर्वक मूलगुण में आ जाता है, तथा जिसमें त्रस जीव हों, ऐसे भोजन का त्याग होता है। शिकार, जुआ आदि तीव्र कषायवाले व्यसन नहीं होते हैं। रात्रि भोजन भी नहीं होता है और पानी भी विधिपूर्वक छानकर प्रासुक कर प्रयोग करते हैं। व्यवहार धर्म का बहुत विवेक श्रावक के बराबर होता है। भीतर एकाएक वीतरागी चैतन्य तत्त्व जहाँ वेदन में आया, वहाँ तीव्र हिंसा और तीव्र कषायवाली प्रवृत्ति रहती नहीं। माँस आदि निकृष्ट अभक्ष्य का भोजन तो जैन नामधारी करता ही नहीं है। अरे! सामान्य सज्जन आर्य मनुष्यों का भी वह भोजन नहीं होता तो फिर धर्मात्मा के तो उसका नाम भी कैसा ? ऐसे जीवों के साथ खान-पान सम्बन्ध भी श्रावक के नहीं होता।

तदुपरान्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारक धर्मी जीवों के गुणों के प्रति श्रावक के बहुमान एवं पूज्य भाव आता है। उसके स्वयं रत्नत्रय धर्म का प्रेम है, इसलिए अन्य जीवों में भी वैसे ही धर्म को देखकर प्रसन्नता तथा आदर भाव होता है, वह मुनि-श्रावक या साधर्मी आदि सुपात्र जीवों को आदर से आहारदान, शास्त्रदान आदि करता है। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा आहार के समय मार्ग पर जाकर मुनिराज की बाट जोहते खड़े रहते थे और भावना भाते थे कि कोई मुनि धर्मात्मा पधारे तो उनको भोजन कराकर मैं भोजन करूँगा और मुनि पधारे तो वहाँ अत्यन्त भक्ति से हृदय प्रफुल्लित हो जाता था और आहारदान करते थे। ऐसा भाव धर्मी के होता है। मुनि का सुयोग आदि नहीं मिलता तो धर्म के रुचिवाले साधर्मियों आदि को आदर भाव से दानादि करते थे। अहा! ऐसा सर्वोत्कृष्ट

जैन धर्म! और ऐसे सर्वोत्कृष्ट देव-गुरु-शास्त्र, उनके लिये मैं क्या करूँ? किस प्रकार उनकी महिमा करूँ? किस प्रकार जगत में उनका प्रभाव प्रसिद्ध करूँ? ऐसी धर्मों के उत्साह उमंग होती है। अन्तर में तो सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा अपने आत्मा को विभूषित किया है और बाह्य में भी विवेकपूर्वक जिनपूजा का उत्सव, गुरु सेवा-मुनि भक्ति, दान, स्वाध्याय, शास्त्र प्रचार आदि से जैनशासन की शोभा बढ़ाते हैं। भूल धर्म तो सम्यक्त्वादि शुद्ध भाव है और उसके साथ श्रावक के ऐसा व्यवहार धर्म होता है। धर्म प्रवृत्ति में भी त्रस हिंसा न हो, उसका उसे विवेक होता है और दान देने में भी पात्र-अपात्र का विवेक होता है। अन्य लौकिक कार्यों में लाखों करोड़ों रुपया लगा डाले और जैनधर्म का आवश्यक कार्य हो तो उसमें हजार, दो हजार लगाने में भी लोभ करें तो उसके दान का या धर्म का विवेक नहीं कहा जाएगा। धर्मात्मा के तो चारों ओर विवेक होता है। दान देने में भी जैनमार्ग की तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि कैसे हो, वह विचार करता है। धर्मात्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेषता को समझकर उन गुणों का बहुमान करता है। इसमें गुण की पहिचान मुख्य है। धर्मात्मा के गुणों को जाने बिना पात्र दान का यथेष्ट लाभ नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि को गुण की वास्तविक पहचान नहीं अर्थात् विवेक नहीं, वह तो केवल राग को पहचानता है, राग में ही वर्तता है; राग से भिन्न धर्मों के रत्नत्रय गुणों को तो वह समझता नहीं। उनकी पहचान करे तो भेदज्ञान हो जाए। भेदज्ञान बिना गुण-दोष की यथार्थ पहचान नहीं होती।

जीव ने शुद्धात्मा की पहचान के बिना अकेले शुभराग से दान, पूजा अनन्त बार किये, उससे भव भ्रमण का अन्त नहीं आया। एक बार भी जो राग से भिन्न चैतन्य गुणों की पहचान करे तो भवभ्रमण का अन्त आ जाए। जिसने ज्ञान एवं कषाय को अत्यन्त पृथक् अनुभव किया है, ऐसे धर्मी के अन्तर में बहुत समता भाव होता है, वीतरागी समता भाव भी धर्मी की एक क्रिया है, वह क्रिया राग से पृथक् है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के वीतरागभावरूप क्रिया तथा दानादि शुभरागरूप क्रियाएँ भूमिका प्रमाण होती है।

श्रावक बार-बार आत्मा की भावना एवं शास्त्र स्वाध्याय करता है

वह धर्मी श्रावक अपने अन्तर में बार-बार आत्मतत्त्व की भावना के पोषण हेतु जिनागम का मनन करता है, बहुमानपूर्वक आत्मा के हित हेतु प्रतिदिन शास्त्र का स्वाध्याय करता है तथा उत्तम शास्त्रों का अन्य साधर्मियों को दान भी करता है। अहो! सर्वज्ञ कथित जिनागम परम गम्भीर रहस्यों से भरा हुआ है, उसमें कथित चैतन्यस्वरूप अद्भुत है, वह बारम्बार मनन करनेयोग्य है। सम्यग्दर्शन के पूर्व पहले भी तत्त्व निर्णय के लिये जिज्ञासु जीव शास्त्र का अभ्यास करता है। उसके अभ्यास में भेदज्ञान का एवं वीतरागता का संस्कार दृढ़ होता है। संसार की विकथाओं में तो पाप है। भाई! उसमें समय नष्ट न करके वीतरागी शास्त्रों के वाँचने में रस लो। इस सबमें सम्यक्त्व की प्रधानता है, क्योंकि सम्यक्त्व ही धर्म की जड़ है।

सम्यक्त्व बिना सभी क्रियाएँ व्यर्थ हैं, जैसे जड़ के बिना वृक्ष निष्फल है

बिना सम्यक्त्व के सभी क्रियाएँ जीव के बिल्कुल भी उपयोगी नहीं हैं, यह बात गाथा २०८ में श्री तारणस्वामी कहते हैं....

जस्स संमित्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजुतं।

संजम क्रिया अकार्जं च, मूल बिना वृष जथा ॥२०८ ॥

जो जीव सम्यक्त्व हीन हैं, उसकी उग्र व्रत-तप-संयम सभी क्रियाएँ मोक्ष के हेतु न होने से निष्फल हैं। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं होता। 'दंसणमूलो धम्मो' भगवान ने मोक्षमार्गरूप जो धर्म कहा है, उसकी जड़ सम्यग्दर्शन है। जिसके अन्तर में सम्यक्त्व है, वह जीव नियम से मोक्षगामी है और सम्यक्त्व हीन जीव व्रतादि करे तो भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा का स्वभाव क्या है? रागादि विभाव क्या है? और देहादि जड़ की क्रिया क्या है? इनकी भिन्नता का जिसे भान नहीं, वह जीव शुभराग के आचरण से भी मोक्षमार्ग को किंचित् भी नहीं साध सकता और सम्यग्दर्शनसहित धर्मी के शुभराग हो तो भी वह राग परमार्थ से कोई मोक्षमार्ग नहीं है; सम्यग्दर्शन आदि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन के साथ अनन्त गुणों में शुद्धता की शाखा फूटती है और अपूर्व संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। ज्ञानी के जैसी विनय आदि होते हैं, वैसी अज्ञानी के कभी नहीं होते। अरे! जिसने राग की पृथकता नहीं जानी और वह राग की क्रिया में ही लीन है, उसकी सभी क्रियाएँ मोह क्रिया हैं। उनमें मोक्षमार्ग नहीं; इस कारण मोक्ष के हेतु रूप

में वे अकार्यकारी है। मोक्षमार्ग तो वीतरागी ज्ञान—क्रिया में है।

जितनी शुद्धता, उतना मोक्षमार्ग; जितना राग, उतना बंधन

प्रश्न :- राग की क्रिया तो मोक्षमार्ग नहीं तो क्या सम्यग्दृष्टि को व्रत-पूजा-दानादि शुभक्रिया नहीं होती ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि के व्रत-पूजा-दानादि के शुभराग की क्रियाएँ होती हैं, किन्तु उस समय उसके राग से भिन्न चैतन्य के अनन्य गुणों में आंशिक शुद्ध परिणमन बर्तता है और जितनी शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जितना राग है, उतना उस सम्यग्दृष्टि के बन्धन है। केवलज्ञानादि शुद्धता की शाखाएँ कहीं राग में से नहीं फूटती। वह शाखाएँ तो सम्यग्दर्शन से ही फूटती हैं। इस भाँति जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ सभी गुणों की शुद्धता होती है और जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं होता, वहाँ एक भी गुण नहीं होता। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ आत्मा की ही वास्तविक आस्था नहीं, तो आत्मा के गुणों की शुद्धि कहाँ से प्रगट होगी ? इस भाँति सम्यग्दर्शन को धर्म की जड़ जानकर और उसका अपार महात्म्य समझकर सभी प्रकार से उसकी आराधना करना श्रावक का मुख्य आचार है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा अपार

— अज्ञानी के सम्यक्त्व के बिना सभी क्रियाएँ अकार्यरूप हैं।

— ज्ञानी के सम्यक्त्व के साथ अनन्त गुणों की शुद्धता का कार्य होता है।

— अज्ञानी जीव शुभ क्रियाएँ करते हुए भी संसार मार्ग में ही हैं।

— ज्ञानी अनन्त गुणों की शुद्धता के कारण मोक्ष को साधता है।
 निज शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवी श्री तारणस्वामी कहते हैं—
 संमितं जस्स मूलस्य, साहा व्रत डाल नंत नंताई।
 अब रेवि गुणा होंति, संमितं जस्स ह्रिदयस्य ॥२०९॥
 संमित बिना जीवा, जानै अंगाई श्रुत बहभेयं।
 अनेयं व्रत चरनं, मिथ्या तप वाटिका जीवो ॥२१०॥
 सुद्ध सांमित्त उक्तं च, रत्नत्रय संजुतं।
 सुद्ध तत्त्वं च सार्धं च, संमित्ति मुक्ति गामिनो ॥२११॥

— तारणतरण श्रावकाचार

सम्यग्दर्शन के बिना जीव के कदाचित् ग्यारह अंग के श्रुतज्ञान का विकास हो जाए किन्तु उसमें 'आत्मा' नहीं आया, अतएव ग्यारह अंग का उसका ज्ञान भी उसे भवभ्रमण से छुड़ा नहीं सका, वह ज्ञान मिथ्या रहा और जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ सम्पूर्ण आत्मा को स्वीकार करते हुए सम्यग्ज्ञान हुआ, वह ज्ञान राग से भिन्न है और मोक्ष के साथ सम्बन्धित है, मोक्ष का स्वाद चखने से वह ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान से ही जीव मोक्षमार्गी हो जाता है। अहो! सम्यग्ज्ञान की महिमा अपार है।

अज्ञानी शास्त्र को भले ही जाने किन्तु शास्त्रों में कथित अपने आत्मतत्त्व को वह नहीं जानता। शास्त्रों का तात्पर्य तो पर से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व बताने का था, उसको तो अज्ञानी ने शास्त्र पढ़कर भी जाना नहीं तो शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ ?

ज्ञानी के तो अन्तर में चैतन्य सदैव और राग से भिन्न जाननेरूप अतीन्द्रिय ज्ञान की महान शक्ति खिल गयी है, उसके पास इन्द्रियज्ञान

का कोई मूल्य नहीं। शास्त्र के शब्दों को पढ़ना भी तो इन्द्रियज्ञान के ही भाँति है। बाह्य में शास्त्र वाँचना भले ही साधारण हो, किन्तु अन्तर में अपूर्व स्वसंवेदनरूप अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा धर्मी जीव मोक्ष को साध रहा है, यह शास्त्र की अपार महिमा है।

इन्द्रियज्ञानी, ज्ञानी को नहीं पहचान सकता

जगत के जीवों को बाह्य दृष्टि में इन्द्रियज्ञान का और पुण्य का मूल्य दिखता है, किन्तु अन्तर में आत्मा के आनन्द का अनुभव करनेवाले अतीन्द्रिय ज्ञान में कितनी अपार शक्ति है, वह उन्हें दिखती नहीं। जिस प्रकार चारों तरफ से बन्द अन्धेरी कोठरी में रहता हुआ मनुष्य सूर्योदय के प्रकाश को कहाँ से जानेगा? इसी प्रकार इन्द्रियज्ञान की कोठरी में रहते हुए अज्ञानी जीव ज्ञानी के अन्तर के अनुभव में अतीन्द्रिय ज्ञान से जगमगाते चैतन्य सूर्य के प्रकाश को कहाँ से जानेंगे? अतीन्द्रिय ज्ञान से ही देखनेवाले जीव, अतीन्द्रिय स्वभाव से परिणमित ज्ञानी को पहचानते नहीं, अतएव इन्द्रियज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ परमात्मा की सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। जिसकी स्तुति करना है, उसको पहचानते नहीं तो स्तुति कहाँ से कर सकें? इसलिए अपने ज्ञानस्वभाव के स्वसंवेदनरूप अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही सर्वज्ञ की स्तुति हो सकती है। यह अपूर्व न्यायाचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार की इकतीसवीं गाथा में तथा प्रवचनसार की अस्सीवीं गाथा में समझाया है। जिस प्रकार अन्धा पुरुष सूर्य को नहीं देख सकता, इसी प्रकार इन्द्रियज्ञान अतीन्द्रिय चैतन्यसूर्य को (ज्ञानस्वभाव को) नहीं देख सकता। अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को देखनेवाला ज्ञान भी अतीन्द्रिय

हो जाता है। यह सन्तों की अन्तर की अपूर्व बात है।

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, अंध एव मूढं त्रयं।

कुन्यानं पटलं जस्य, कोसी उदय भास्करं ॥२१४॥

—तारण तरण श्रावकाचार

अहो! जिनागम तो राग से भिन्न शुद्धात्मा को बताता है। उसके बिना समस्त पठन मिथ्या है। जिसके सम्यग्दर्शन नहीं, वह जीव अन्धे के समान हैं। जैसे सूर्य के उदय होने पर भी अंधे को कुछ दिखता नहीं; उसी प्रकार जिनवाणी तो आत्मस्वरूप दिखाने के लिये सूर्य के समान है किन्तु दृष्टि अन्ध को आत्मा दिखता नहीं। धर्मी के सम्यक्त्व सूर्य का उदय होता है, वहाँ अज्ञान राशि का अन्धकार रहता नहीं और उसे आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट अनुभव होता है।

सम्यक्त्वी जीव मोक्ष को साधता है, सम्यक्त्व हीन जीव मृतक तुल्य है

यहाँ कहते हैं कि जिसके अन्तर में सम्यक्त्व का प्रवाह बहता है, वह ही केवलज्ञान को साधता है, और जो जीव सम्यग्दर्शन को नहीं साधता, वह असाध्य है और जीवित भी मृतक तुल्य है। श्री तारणस्वामी कहते हैं :—

संमिक्तं जस्य सूँवते, श्रेत न्यान विचष्यनं।

न्यानेन न्यान उत्पादत, लोकालोकस्य पस्यते ॥२१५॥

संमिक्तं जस्य न पस्यंते, असार्धं व्रत संजमं।

ते नरा मिथ्या भावेन, जीवितोपि मूर्त भवेत् ॥२१६॥

— तारण तरण श्रावकाचार

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने भावप्राभृत में मिथ्यादृष्टि को 'चल शव' (चलता-फिरता मूर्दा) कहा है :—

जीव विमुक्को सबओ दंसण मुक्को इ होइ चल सबओ ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चल सबओ ॥१४३॥

जिस प्रकार प्राण हीन शरीर (शव) शोभायमान नहीं होता, वह अपूज्य है; उसी प्रकार लोकोत्तर मार्ग में सम्यक्त्वरूपी प्राण हीन जीव चलता-फिरता भी शव तुल्य है, वह धर्म में शोभायमान नहीं होता तथा अपूज्य है। जड़ देह कदापि पूज्य नहीं, तो सम्यक्त्वादि गुण हैं, उसी के अनुसरण में यहाँ श्री तारण स्वामी जी भी कहते हैं कि जो जीव सम्यक्त्व के द्वारा साध्य को नहीं साधता, वह मिथ्याभाव सहित वर्तता है, वह जीव व्रत, संयम सहित होते हुए भी असाध्य है, अर्थात् जीवित होते हुए भी मृतक के समान। अरे! जिसमें चैतन्य सुख का वेदन नहीं, उसे जीवित कौन कहेगा? धर्मी जीव सम्यक्त्व के द्वारा साध्य को साधते हैं, उनके हृदय में सम्यक्त्व का पवित्र प्रवाह बहता है और ऐसे विलक्षण श्रुतज्ञान के द्वारा वे केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अहो! साधक का श्रुतज्ञान आवाज देकर केवलज्ञान को बुलाता है। यह बात श्री वीरसेनस्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका (पुस्तक नौ, पृष्ठ ८२) में कही है, वहाँ कहते हैं कि विनय से प्राप्त किया गया श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाए तो पर भव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को बुला लेता है।

अहो! एक बार भेदज्ञान के संस्कार से राग एवं ज्ञान को पृथक्-पृथक् अनुभव किया और सम्यक् श्रुत हुआ, उस

श्रुतज्ञान के द्वारा अल्प काल में साधक जीव केवलज्ञान का आह्वान करेगा... हे केवलज्ञान! तू आ... आ! मेरी शक्ति में तू विद्यमान है, उसे मैंने प्रतीति में ले लिया है, इससे अब तू मेरी शक्ति में से व्यक्त हो।

देखो! इससे यह बात आ गयी है कि रागादि केवलज्ञान का कारण नहीं, किन्तु धर्मी के भावश्रुत की धार केवलज्ञान में जाकर मिल जाती है, अतएव सम्यग्ज्ञान का परिणमन ही केवलज्ञान का कारण होता है। ज्ञान का कारण ज्ञानरूप है, ज्ञान का कारण रागरूप नहीं। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होने से उसकी भावना द्वारा केवलज्ञान उपजता है, राग की भावना द्वारा केवलज्ञान नहीं होता। अज्ञानी को ज्ञानचेतना नहीं होती। राग से भिन्न-भिन्न ज्ञानचेतना धर्मी को ही होती है।

राग से भिन्न आत्मा की चेतना, ज्ञानचेतना है, वहीं भावश्रुत है।

भावश्रुत अथवा ज्ञानचेतना उसको कहते हैं, जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर राग से भिन्न आत्मा को चेतने, अनुभवे, ऐसा चेतनारूप ज्ञानपरिणमन ही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन और स्वानुभव के बिना चेतना के भावश्रुत प्रगट नहीं होता। साधकभाव रागरूप नहीं किन्तु ज्ञानचेतनारूप है। वह चेतना की क्रिया के द्वारा केवलज्ञान साधता है। राग तो बाधक भाव है, उस राग की क्रिया के द्वारा केवलज्ञान साधता नहीं। केवलज्ञान की अपार दिव्य शक्ति है, उसका पार नहीं, ऐसा अनन्त; आलोक को भी वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष जान लेता है। जहाँ राग का बन्धन होता है, वहाँ ऐसा केवलज्ञान नहीं होता, राग से मुक्त हुआ ज्ञान अन्तर में एकाग्रता के

द्वारा राग का नाश करके केवलज्ञान को साधता है। उस साधक के श्रुतज्ञान में भी अद्भुत अतीन्द्रिय शक्ति खिल गयी है।

इष्ट की सिद्धि सम्यग्दर्शन के द्वारा होती है।

अहा! ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो व्रतादि के बिना भी शोभायमान होता है और ऐसे सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ यदि मुनि दशा का चारित्र भी होवे तो आत्मा के शोभा की क्या बात! वह तो पंच परमेष्ठी पद में आ गया। सम्यग्दर्शन रहित जीव के तो व्रत, संयम असाध्य हैं, जिस प्रकार मृतक कलेवर का जीवन किसी भी उपाय से साध्य नहीं, इसलिए उसको जीवित रहने के लिये सभी उपचार और क्रियाएँ निष्फल हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी प्राण जिसमें नहीं, ऐसा जीव भी शुद्धात्मा के साध्य से रहित असाध्य है, उसके व्रतादि सभी उपचार और क्रियाएँ धर्म के लिये निष्फल हैं। सम्यग्दर्शनरूपी जीव ही जिसमें उड़ गया है, उसे व्रत, तप तो खाली खोलियों की तरह मृतक कलेवर के समान है, उसमें चैतन्य का आनन्दमय जीवन नहीं है। शुद्ध चैतन्यभावरूप जीवन के बिना होने से वह मृतक के समान है, मृतक कलेवर जैसे शरीर में वह मूर्च्छित है, इससे प्रतिक्षण मिथ्याभावरूप भावमरण से वह दुःखी हो रहा है। अहो! क्षण-क्षण भयंकर भावमरण क्यों रच रहे हो?

अरे जीव! अपने चैतन्यभाव को सम्हाल और सम्यग्दर्शन-ज्ञान करके आनन्दमय आत्मजीवन जी। ऐसा मिथ्याभाव वाला असाध्य जीवन तुझे क्यों रुचता है? अरे! यह भी कोई जीवन कहाता है? जीव का जीवन तो उपयोगमय होता है, आनन्दमय होता है, ज्ञानमय होता है, राग या विषयों का अथवा शरीर का

पराश्रितपना उसमें नहीं होता है। ऐसा स्वाधीन सुखमय जीवन ही जीव की दृष्टि है और उस दृष्टि की सिद्धि सम्यग्दर्शन द्वारा होती है। आत्मा का स्वानुभवमय जीवन धर्मी का वास्तविक आनन्दमय जीवन है। आत्मा के भान बिना ऐसा जीवन कहाँ से होगा ? अहा ! जिनवाणी तो संजीवनी है, वह आत्मा के स्वरूप की प्रतीति से सम्यग्दर्शन के द्वारा मृतकों को जीवित करती है, अर्थात् मिथ्यात्व से छुड़ाकर अपूर्व सम्यक्त्व जीवन प्रदान करती है और मरण से छुड़ाकर अमर मोक्षपद प्राप्त कराती है। अहो ! जिनवाणी धन्य है।
हे जीव! तुझे जीना आता है या नहीं ?

अरे भाई ! ऐसा मनुष्य अवतार और जैन कुल का संस्कार पाकर भी यदि तूने रागहीन चैतन्य जीवन प्राप्त न किया और राग की क्रियाओं में ही जीवन बिताया तो तुझे जीवन का जीना न आया, राग में तूने तेरा जीवन धकेल दिया। भाई ! इस राग की क्रिया से तुझे आत्मा का क्या लाभ हुआ ? सम्यग्दर्शन के बिना शुभ क्रियाएँ भी निष्फल हैं, इनमें धर्म का फल बिल्कुल भी नहीं मिलता। संसार में फल उसे मिलता है, जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन है, वही जीवित है, उसे वास्तविक आत्मजीवन जीना आता है, श्रावकपना, मुनिपना और केवलज्ञानपना भी उसे ही होता है और सादि-अनन्त जैसा मोक्ष जीवन भी उसे ही प्रगटता है।

तारूं जीवन खरूं तारूं जीवन.....

जीवी जाण्यु नेमनाये जीवन.....

(गुजराती)

तीर्थकरों ने ऐसा जीवन स्वयं जीना जाना और संसार के जीवों

को भी ऐसे चैतन्य जीवन जीने का उपदेश दिया। राग में अथवा शरीर में आत्मा का जीवन है ही नहीं, उनसे तो आत्मा की भिन्नता भगवान ने बतायी है। शरीर से भिन्न आत्मा को जो नहीं जानता है, उसका कभी भी सच्चा जीवन होता ही नहीं। शरीर से अपना जीवन जिसने माना, उसको तो शरीर छूटने से मरण लगता है। अतएव मरण भय उसका कभी मिटता नहीं और सच्चा चैतन्य जीवन उसे मिलता नहीं। धर्मी तो जानता है कि मैं देह से जीवित नहीं किन्तु [अपने चैतन्य भाव से जीवित हूँ, (जीव उपयोग लक्षणः)] इससे मेरा कभी मरण नहीं, मुझे उपयोग का कभी विरह नहीं। ऐसा जीवन सम्यक्त्व के द्वारा प्राप्त होता है। सम्यक्त्व के बिना जीवन तो मृतक के समान है।

सम्यक्त्व सहित जीव मोक्ष के मार्ग में शोभायमान होता है, मिथ्यादृष्टि कहीं भी शोभायमान नहीं होता

गाथा २१८ में भी श्री तारणस्वामी सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए कहते हैं:—

संमिक्त सहित नरयम्मि, संमिक्त हीनो न चक्रियं।

संमिक्तं मुक्ति मार्गस्स, हीन संमिक्त निगोदयं ॥२१८ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

अहो! सम्यक्त्वी को तो नरकवास भी भला है, किंतु सम्यक्त्व हीन जीव को चक्रवर्तीपना भी शोभता नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व का आराधक जीव तो मुक्तिमार्ग में है और सम्यक्त्व का विराधक निगोद में जाता है। इसलिए सम्यक्त्वी जीव को उत्तम कहा है और सम्यक्त्व हीन जीव को हीन, हल्का कहा है। सम्यक्त्वहीन जीव

की कोई क्रिया शोभती नहीं। अरे! जिस क्रिया से आत्मा का कल्याण नहीं हो, उसे धर्म की क्रिया कौन कहेगा और इससे आत्मा की क्या शोभा है ?

जो जीव निज दर्शन के अभिमुख हैं, उनका मरण भी श्रेष्ठ है परन्तु जो निज दर्शन से विमुख हैं, वे पुण्य करें तो भी उन्हें कोई लाभ नहीं, ऐसा परमात्म प्रकाश, गाथा ५८ में कहा है तथा उसकी टीका में भी कहा है कि सम्यक्त्वी जीव का तो नरकवास भी अच्छा है और सम्यक्त्वहीन जीव स्वर्ग में भी शोभता नहीं।

सम्यक्त्व की उत्कृष्ट आराधना का फल सिद्धपद है और मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आराधना का फल निगोद है, इस प्रकार आमने-सामने दोनों में उत्कृष्ट बात बतायी है। धर्म बिना चक्रवर्ती पद से धर्म सहित दरिद्रता अच्छी है। दर्शन स्तोत्र में कहा गया है कि—

जिन धर्म विनिर्मुक्तो माभवत् चक्रवर्त्यपि ।
स्यात् चेटोपि दरिद्रीपिजिन धर्मनुवासितः ॥

दरिद्रता तो बाह्य में लोक की अपेक्षा से है, बाकी तो धर्मी के अन्तर में चैतन्य का जो अपार आनन्दमय वैभव प्रगट हुआ है, उसको तो तीन लोक का वैभव भी तुच्छ है। चक्रवर्ती पद अथवा इन्द्र पद भी उसको भूसा के समान लगता है, ऐसे धर्मी को दरिद्र कौन कहेगा ? वह तो जगत का राजा है [जो ज्ञान दशा में राजे (शोभे), वह राजा] जिस प्रकार दाने के ऊपर भूसा होता है, किन्तु उस भूसे में कस नहीं होता, कस तो अनाज के दाने में है; उसी प्रकार पुण्य और शुभराग भी भूसा के समान हैं, उसमें कस नहीं;

धर्म का वास्तविक कस तो सम्यक्त्व आदि भाव में है, और उससे धर्मी जीव शोभायमान होता है।

सातवें नरक में रहनेवाला जीव भी यदि सम्यक्त्व सहित हो तो वह मोक्ष के मार्ग में शोभायमान होता है। ऐसे असंख्यात जीव सातवें नरक में हैं और स्वर्ग में होते हुए, जिन जीवों को सम्यग्दर्शन नहीं, वे जीव शोभते नहीं, वे मोक्ष के मार्ग में नहीं। अहा! सम्यक्त्व का लाभ जगत में महान लाभ है, सम्यक्त्वी का जीवन निःसन्देह प्रशंसनीय है, सुख रस का अपूर्व प्रवाह उसके जीवन में निरन्तर बहता है। चक्रवर्ती के अथवा इन्द्र पद के वैभव से आत्मा की शोभा नहीं, सम्यग्दर्शन से ही आत्मा की शोभा है। गाथा २१९ में श्री तारणस्वामी कहते हैं:—

संमित्तं संजुक्त पात्रस्य, ते उत्तमं सदा बुधै।

हीन संमित्तं कुलीनस्य, अकुली अपात्र उच्यते ॥२१९॥

— तारण तरण श्रावकाचार

जो कोई जीव सम्यग्दर्शनसहित है, उसको बुधजनों ने उत्तम एवं पात्र कहा है। पशु हो, पक्षी हो, सिंह हो, बैल हो, हाथी हो, सर्प हो अथवा नारकी हो, चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु जो सम्यग्दर्शनसहित है तो वह पात्र जीव देव तुल्य है, प्रशंसनीय है, जैन शासन में वह शोभनीय है। और दूसरा जीव भले ही राजा हो, देव हो, ऊँचे कुलवाला हो किन्तु जो सम्यक्त्व का विराधक है, तो वह अकुलीन और अपात्र है, जैन शासन में उसकी शोभा नहीं और बाहर की विभूति में आत्मा का कल्याण कहाँ है, सम्यग्दर्शन में आत्मा का अनन्त कल्याण है।

सम्यक्त्व के साथ शान्ति होती है, कषाय नहीं

किसी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व की मिथ्यात्वदर्शा में नरकायु का बन्ध हो गया हो और सम्यक्त्वसहित वह पहले नरक में जाए तो वहाँ वह पूर्व के पाप कर्म का क्षय करता है। उसके सम्यक्त्व की किंचित भी दोष नहीं आता, उस सम्यक्त्वी जीव को तो नरकायु का बन्ध होता ही नहीं। जो कर्म पूर्व में बँधे थे, खिरने के लिये उदय में आये किन्तु उस जाति के नये कर्म बँधते ही नहीं —ऐसा नियम है सम्यक्त्व के साथ। उसके जिससे तिर्यच आयु या नरकायु या बन्ध हो, ऐसे कषाय परिणाम रह ही नहीं सकते। सम्यक्त्व के साथ चैतन्य की अतीन्द्रिय शान्ति प्रगटी, वहाँ ऐसे तीव्र रसवाले कषाय भाव कैसे रह सकते हैं? अहो! सम्यग्दर्शन तो जीव को भव समुद्र से पार करनेवाले मोक्षमार्ग में कर्णधार हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है।

कौन ऊँचा? कौन नीचा?

कोई जीव, पूर्व कर्मानुसार नीच कुल में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु जिसने चैतन्य का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो, वह जीव, वर्तमान सम्यक्त्वसहित भूमिका का पुण्य बाँध रहा हो, उससे वह उत्तम कुल वाला है और ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी जो जीव मिथ्यात्व का तथा पाप का सेवन करता है, वह जीव पाप बाँधता है, अतः परमार्थ में वह नीच कुल वाला है। भाई! कुल का अभिमान छोड़कर अपने परिणाम तो तू देख। सम्यक्त्व की आराधनावाला जीव अल्प काल में भव का अन्त करके तीन लोक का नाथ होगा। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है। मिथ्यादृष्टि

के उसका बन्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शन स्वयं अबन्ध परिणाम है, वह स्वयं कोई तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का कारण होता नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के ही दर्शनविशुद्ध आदि भावना का ऐसा विशुद्ध परिणाम होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं तो मोक्ष का ही कारण है, वह बन्ध का कारण है ही नहीं। तीर्थकर आत्मा की शुद्धि को साधते हैं; वे बन्ध के कारणरूप राग को नहीं साधते, सम्यक्त्ववन्त जीव ऊँचा है। वह उन्नति के मार्ग पर ही जा रहा है, मिथ्यादृष्टि संसार में कदाचित भले ही ऊँचा हो किन्तु वह निःसन्देह ऊँचा नहीं; वह तो संसार मार्ग में है, उसे ऊँचा कौन कहेगा? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग होने से श्रेष्ठ है; उसके सेवन से ही सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद प्राप्त होता है। उसमें भी सम्यग्दर्शन प्रथम होने से मुख्य है, उसको ऐसी महिमा जानकर श्रावकों को पूर्ण उद्यम से उसकी आराधना करना चाहिए। ●●

[२२]

बाईसवाँ प्रवचन

धर्म के द्विविध आचरण में प्रथम आचरण
सम्यक्त्व का है, सम्यक्त्व के बारम्बार
चिन्तन से सर्वे दोष दूर और
गुणों की वृद्धि होती है।

सम्यग्दर्शन की महिमा समझाते हुए श्रावकाचार की गाथा
२२१ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि :—

संमिक्तं जस्य चिंतंते, बारंबारेन सार्धयं ।

दोषं तस्य विनस्यंति सिंध मतंग जूथयं ॥२२१॥

जिस प्रकार सिंह के आते ही हाथियों का झुंड दूर भागता है, वैसे ही चैतन्य गुफा में से सम्यक्त्वरूपी सिंह के बाहर आते ही समस्त दोष दूर भागते हैं। सम्यक्त्व के अर्थ शुद्ध आत्मा के चिन्तन से सर्व गुण प्रगट होते हैं और सर्व दोष दूर हो जाते हैं। 'परमात्म पुराण' में सम्यक्त्व को फौजदार की उपमा देते हुए कहते हैं कि जैसे फौजदार चोर को अन्दर प्रवेश नहीं होने देता और नगर की रक्षा करता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी फौजदार कोई दोष को अन्दर निज स्वरूप में प्रवेश नहीं होने देता और समस्त गुणों की रक्षा करता है। जहाँ सम्यक्त्वरूपी फौजदार नहीं, वहाँ अज्ञान से रागादि परभाव आत्मा में घुस जाते हैं और जीव उन्हें अपना स्वरूप

मान लेते हैं, उससे उसके स्वगुण लुट जाते हैं। स्वगुणों की रक्षा के लिये सम्यक्त्व आराधना प्रथम है।

सम्यक्त्वरूपी सिंह की गर्जना होते ही....

जिस प्रकार सिंह हाथियों के झुण्ड को भगा देता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी सिंह, गुण-दोषों को पृथक् करके शुद्धात्मा के बारम्बार चिन्तन से सभी दोषों को भगा देता है।

जिनवचनानुसार आत्मा का स्वरूप बराबर जानकर चिन्तन योग्य है, कल्पना से चिन्तन नहीं करना चाहिए। जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र होता नहीं, उसको बारबार जानना ही जिनवाणी की श्रेष्ठ विनय है। जिस प्रकार सिंह गर्जना को सुनकर हाथियों की टोली भाग जाती है, सिंह के सामने खड़ी नहीं रहती; उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व को प्रतीति में लेकर उसमें एकाग्रतारूप सिंह गर्जना करने से सभी दोषों का पलायन हो जाता है, चैतन्य के चिन्तन से कोई दोष रह नहीं सकता। थोड़ा भी रागादि हो तो वह चैतन्य से दूर है, चैतन्य भाव में उसका प्रवेश नहीं है। धर्मी उसको भिन्न जानता है।

श्रावक के आचार में सम्यक्त्व की बात बारम्बार किसलिए?

देखो, यह श्रावक के आचार का वर्णन चलता है। कोई कहे कि श्रावक के आचार के बीच सम्यक्त्व की बात घड़ी-घड़ी क्यों लाते हो? उसका उत्तर—प्रथम सम्यक्त्व का आचरण और दूसरा संयम का आचरण; उसमें सम्यक्त्व आचरण प्रथम होता है। अतः वह मूल है, उसके पश्चात् चारित्रदशारूप आचरण होता है। सम्यग्दर्शन के बिना कभी संयम का आचरण सत्य नहीं होता;

इसलिए श्रावक के आचार में भी सम्यग्दर्शन मूलभूत होने से बारम्बार उसकी बात आती है। सम्यक्त्व आचरण का तो अभी ठिकाना ही न हो और अकेले शुभराग से अपने को चारित्र आचरण मान ले, उसे श्रावकपना तो नहीं, किन्तु उल्टे मिथ्यात्व का पोषण होता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने अष्टप्राभृत में इस बात का खास उपदेश दिया है कि हे श्रावक! प्रथम तू सम्यक्त्व का ध्यान कर, श्रावक का वह प्रथम कर्तव्य है।

द्विविध आचरण में सम्यक्त्व आचरण प्रथम और मूलभूत है।

श्री आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने जो बात अष्टपाहुड़ में बतायी है, वही बात यहाँ श्री तारणस्वामी कहते हैं—

आचरणं द्विविधं प्रोक्तं, संमित्तं संयमं ध्रुवं ।
 प्रथमं संमित्तं चरनस्य, अस्थिरी भूतस्य संजमं ॥२५४ ॥
 चारित्रं संजमं चरनं, सुद्धं तत्त्व निरीष्यनं ।
 आचरणं अवधिं दिष्टा, सार्धं सुद्धं दिष्टितं ॥२५५ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

देखो, अष्ट प्राभृत के चारित्र प्राभृत में कहते हैं—

जिणणाणदिद्वि सुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारितं ।
 विदियं संजमचरणं जिणणाण सदेसियं तं पि ॥५ ॥

श्री तारणस्वामी ने श्री न्यान समुच्चयसार में भी कहा है कि:—

सम्मत्तं चरन पढमं, संयम चरनं पि होइ दुतियं च ।
 सम्मत्त चरन सुधं, पच्छादो संजमं चरनं ॥२६३ ॥

सम्यक्त्व आचरण और संयम आचरण, ऐसे दो प्रकार के आचरण हैं, उसमें प्रथम सम्यक्त्व आचरण होता है, उसके पश्चात्

संयम का आचरण होता है। सम्यक्त्व का आचरण तो अव्रती सम्यग्दृष्टि के भी होता है और इस कारण वह भी मोक्षमार्गी है। मोक्षमार्ग में ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसमें भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही कहा है, उसके पश्चात् चारित्र कहा है क्योंकि पहले सम्यग्दर्शन हो, उसके ही संयमदशा हो सकती है। स्वतत्त्व की शुद्धदृष्टिरूप सम्यक्त्व आचरण भी अबन्ध्य है और संयम आचरण भी अबन्ध्य है, यह दोनों वीतरागभावरूप हैं, वे बन्ध का कारण नहीं होते।

बन्ध का कारण तो राग है और उस राग को निस्सन्देह संयम का आचरण नहीं कहते। सम्यक्त्ववन्त जीव तो अल्प काल में ही संयम प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करेंगे, किन्तु सम्यक्त्वहीन जीव तो चाहे जितना राग करके भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं कर सकते, अतएव मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन मुख्य है—अग्रणी है—प्रथम है।

सम्यक्त्वहीन ज्ञान अथवा संयम सच्चा नहीं होता। पहले सम्यग्दर्शन में जिसने शुद्ध आत्मा को जाना है; अनुभव किया है, उसके ही उसमें स्थिर परिणाम के द्वारा संयमरूप चारित्रदशा प्रगट होती है। यह सभी बातें समयसार आदि शास्त्रों में तो हैं ही और प्रवचनों में भी उनका खूब खुलासा आ गया है, 'आत्म-धर्म' में भी बहुत बातें आ गयी हैं, किन्तु यहाँ तो भगवानदासजी सेठ की माँग के अनुसार श्री तारणस्वामीजी के साहित्य में से वाँचते हैं, ये सभी समयसार में हैं। तारणहार ऐसा अपना आत्मा, उसके सन्मुख होकर उसके रास्ते चलना, यह ही सच्चा तारण पन्थ है, अर्थात् वह मोक्षमार्ग है। ऐसे मार्ग पर चलने के लिये सबसे पहले शुद्धात्मा के

अनुभव सहित सम्यग्दर्शन होता है, उसके पश्चात् वीतरागी लीनतारूप चारित्र्यदशा होती है।

मोक्ष हेतु आचरण राग हीन शुद्ध है, राग मोक्ष का आचरण नहीं

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पाँचवें गुणस्थान से संयम आचरण प्रारम्भ होता है। वहाँ परिणामों में स्थिरता बढ़ती जाती है और राग-द्वेष घटता जाता है। सम्यक्त्वपूर्वक ऐसा आचरण शुद्ध है और वही मोक्ष के लिये सफल है। अज्ञानी के तो जहाँ शुद्ध तत्त्व का निरीक्षण भी नहीं, वहाँ उसमें लीनतारूप संयम कहाँ से होगा? उसके राग के सभी आचरण मोक्ष के लिये निष्फल हैं। मोक्षमार्ग के जो आचरण हैं, वे दोनों (दर्शनाचरण एवं संयमाचरण) वीतराग हैं, उनमें राग नहीं, अतः संसार के लिये वे निष्फल हैं और मोक्ष के लिये वे सफल हैं।

धर्मी आकुलित नहीं होता

धर्मी जीव के सम्यग्दर्शन में जो निःशंकतादि आठ गुण हैं, उसमें परमार्थरूप निःशंकता अपने शुद्ध स्वभाव से तन्मय बुद्धिरूप निःशंकता है, वह रागहीन है, तथा व्यवहार में देव-गुरु-तत्त्व सम्बन्धी निःशंकता का भाव है, उसमें जितना विकल्प है, उतना राग है। ऐसा दोनों प्रकार का सम्यक्त्व आचार धर्मी को भूमिका - अनुसार एक साथ होता है। स्वभाव में पूर्णता और पर्याय में अपूर्णता; स्वभाव में अकेली शुद्धता और पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता दोनों एक साथ। इसको जानकर भी धर्मी जीव आकुलित नहीं होता, तत्त्व में घबड़ाता नहीं, पर्याय में कुछ अशुद्धता देखकर स्वभाव की शुद्धता में सन्देह नहीं करता; अनेकान्त स्वभाव अनुसार अपने

द्रव्य-गुण-पर्याय को जैसा है, वैसा जानता है और स्वभाव को साधकर अपनी शुद्धता को बढ़ाता जाता है। ज्ञान नेत्र खुल गये हैं, उनके द्वारा वह निःशंकतापूर्वक मोक्ष के मार्ग में चला जाता है। अनेकान्त का ज्ञान उसे कदापि भी घबराने नहीं देता।

अहो! गुरु के प्रताप से पंचम काल में भी क्षायिक जैसा सम्यक्त्व!!

श्री तारणस्वामी कहते हैं —

जस्स हृदयं संमित्तस्य, उदयं सास्वतं अस्थिरं।

तस्य गुणस्य नाथस्य, आसक्य गुण अनंतयं ॥२२३॥

—तारण तरण श्रावकाचार

जिसके हृदय में सम्यक्त्व है, वह जीव अपने अनन्त गुणों का नाथ हुआ है और अनन्त गुण उसमें आसक्त हुए हैं अर्थात् अनन्त गुणों की निर्मल परिणति उसके पास दौड़ती जाती है। अहो! आत्मा में जहाँ सम्यक्त्वरूपी प्रकाश हुआ, वहाँ अनन्त गुण निधान अपने में देखा, वह जीव अपने पास अधिकाधिक गुणों को आता देख उनका आश्रय करता है। इस भाँति सम्यग्दर्शन में अनन्त गुणों का वास है। अभी तो इस पंचम काल में उत्पन्न हुए जीवों को, जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं, उन्हें भी श्रीगुरु के प्रताप से हुए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी ऐसा दृढ़ होता है कि क्षायिक होने तक बीच में उसका भंग नहीं होता। अर्थात् वह भी एक प्रकार से क्षायिक जैसा ही है। वह सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं ही मेरे अनन्त गुणों का नाथ हूँ। मेरे गुणों की भीख मुझे दूसरों से माँगना पड़े, इतना दीन मैं नहीं हूँ। मैं शरीर, मकान, लक्ष्मी आदि परद्रव्यों का नाथ नहीं हूँ; राग का नाथ नहीं हूँ, राग का रक्षक नहीं हूँ; राग का तो मैं नाशक हूँ। मेरे

आत्मस्वभाव में से प्रगट हुई मेरी सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि निर्मल प्रजा, उसका मैं रक्षक पोषक नाथ हूँ। मेरी परिणतियों का नाथ दूसरा नहीं और दूसरों का नाथ मैं नहीं। अहो! स्वाधीन होकर संसार का बोझ उतार डाला। अज्ञान में सारे जगत का बोझ लेकर तथा जगत में दीन होकर दुःखी हुआ; अब स्वभाव की पूर्णता का भान होने से दीनता मिट गयी और पर की भिन्नता का भान होने से जगत के कर्तृत्व का बोझ उतर गया, आत्मा हल्का-फुल्का होकर स्वयं अपनी शान्ति में लीन हुआ। अहो! अपूर्व शान्ति का स्वाद लेते-लेते अल्प काल में अब मोक्ष पद को प्राप्त करूँगा। इस भाँति सम्यक्त्व के बल से धर्मी निःशंक है।

ज्ञान चक्षु में राग का धूल कण नहीं समाता

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा की चैतन्य आँख है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान चक्षु है, उसमें राग कण नहीं समाता। यदि राग का एक कण भी ज्ञान में मिल जाए, तो आँख बिगड़ जाएगी अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान की प्रतीति उसके नहीं रहेगी। भले आगम का अभ्यास हो या शुभ आचरण हो, किन्तु अन्तर में रागहीन ज्ञान के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सुख नहीं होता, धर्म नहीं होता, मोक्ष नहीं होता। जो अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, वे सभी सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा का अनुभव करके ही सिद्ध हुए हैं और त्रिकाल में जगत में वह मार्ग जयवन्त है। त्रिकाल में मोक्ष का मार्ग कभी बन्द होनेवाला नहीं है; सदैव खुला रहनेवाला है। प्रत्येक छह मास आठ समय में छह सौ आठ (६०८) जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, इस रीति से सदा काल मोक्ष का प्रवाह चलता है। अनन्त जीव सिद्ध पद में विराज रहे हैं और असंख्य जीव अभी सिद्धपन को साध रहे हैं,

उनका मूल सम्यग्दर्शन है। अतएव जो जीव अपना हित चाहता है, उसे सम्यग्दर्शन के प्रकाश के द्वारा आत्मस्वरूप का अनुभव करना चाहिए। अहो! अनन्त गुणस्वरूप आत्मा की प्रतीति की जाए तो ज्ञान, राग से परे होकर अतीन्द्रिय हो अन्तर स्वभाव में प्रवेश कर जाता है और वह ज्ञान महा आनन्दसहित मोक्ष को साधता है। मोक्ष का मार्ग सदैव खुला है।

साधक स्वयं अपनी पर्याय का स्वामी है

सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं अपने अनन्त गुणों का नाथ है। नाथ क्यों? जो मिला है, उसकी रक्षा करे—वृद्धि करे, अपनी सम्यग्दर्शनादि जो पर्याय प्रगटी है, आत्मा उसका नाथ होकर उसकी रक्षा करता है, वृद्धि करता है, और जो पर्याय नहीं प्रगटी, ऐसी केवलज्ञानादि पर्याय को प्रगट करता है। इस प्रकार साधक जीव अपनी अनन्त गुण-पर्याय का नाथ है। सम्यग्दर्शन होने से ऐसे नाथ से अपनी भेंट हुई, बड़े की गोद में बैठा अर्थात् तीन लोक के नाथ ऐसे महान स्वभाव की गोद में जो पर्याय बैठी, उसे अब मोक्ष पद प्राप्त करने में क्या चिन्ता? महान चैतन्य की शरण ली तो वह पर्याय अब पीछे नहीं लौटेगी, केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहेगी।

चैतन्य जीवन बिना स्वर्ग में सुख नहीं

शुभराग के आचरण के रस के पीछे रागहीन चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा भूल जाता है और राग में ही धर्म मान लेता है, उसके तो (बिल्ली निकालकर ऊँट बाँधने जैसा) अशुभ की बिल्ली निकालते हुए मिथ्यात्व का ऊँट बाँध लेने जैसा है। अरे भाई! पहले राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर मिथ्यात्व के महापाप से तो तू छूट—फिर अल्प पाप रहेगा, उसके नाश करने में देर नहीं

लगेगी। अरे! सम्यग्दर्शन जिसमें नहीं, ऐसे शुभराग से जीव को क्या लाभ मिलनेवाला है? कदाचित् स्वर्ग का भव मिले, किन्तु कोई आत्मा का सुख उसमें थोड़े ही मिलेगा। वह तो राग की कर्ताबुद्धि करके राग के ही वेदन में लगा रहा; चैतन्य स्वाद का वेदन तो उसने किया नहीं। चैतन्य जीवन हीन उसका राग तो मृतक कलेवर जैसा है। चैतन्य जीवन ही सुखी जीवन है, उसके बिना कहीं सुख नहीं है।

सम्यक्त्वी सुखपूर्वक मोक्ष की ओर जाता है

अहा! जिसने सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा का अनुभव किया और आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया, उस जीव ने तीन लोक में सारभूत आत्मा को जान लिया। भावश्रुत में उसके सर्वज्ञ स्वभाव हो गया, अतः रागहीन आनन्दमय जीवन उसका प्रगट हुआ। जिस प्रकार स्वच्छ और स्थिर जल में मुख दिखता है; उसी प्रकार स्वच्छ और स्थिर उपयोग के द्वारा सर्वज्ञस्वभावी निज तत्त्व को जानकर उसमें लोकालोक को जानने की शक्ति धर्मी जीव देख लेता है; पर्याय में अभी अल्पज्ञता होते हुए भी उसकी श्रद्धा के बल से सर्वज्ञस्वभाव को स्वीकार लेता है। ऐसा सम्यक्त्वी जीव सदा सुखपूर्वक मोक्षमार्ग की ओर जा रहा है। इसमें मोक्षार्थी जीवों को जैसे बने वैसे अन्तर्मुख होकर ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन तीर्थ है, वह भव समुद्र से तरने के लिये जहाज है। शुभराग कोई जहाज नहीं, वह तो बोझा है

दर्शनं तत्त्व सार्धं च ति अर्थं सुद्ध दिस्टतं।

मय मूर्ति संपूर्णं च स्वात्म दर्सन चिंतनं ॥२३६॥

सम्पूर्ण ज्ञान मूर्ति ऐसे अपने आत्मा को शुद्ध दृष्टि से देखना तत्त्वार्थ श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन है और वह तीर्थ है, उसके द्वारा भव समुद्र को तरते हैं।

ऐसा सम्यग्दर्शन कोई भिन्न वस्तु नहीं है, किन्तु शुद्धात्मा क गुण हैं, यह बात श्री तारणस्वामी ने गाथा २३५ में कही है:—

दर्शनं न्यान चारित्रं, सार्धं सुद्धात्मा गुणं।

तत्त्व नित्य प्रकासेन, सार्धं न्यान मयं ध्रुवं ॥२३५ ॥

— श्री तारण तरण श्रावकाचार

सदा ध्रुव ज्ञान से प्रकाशमान ऐसे आत्मतत्त्व के दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये गुण हैं। रागादि भाव आत्मा के गुण नहीं, वे तो दोष हैं, शुद्धात्मा के गुण में उनका अभाव है। राग भले ही शुभ हो किन्तु वह भव सागर से तरने का कोई जहाज नहीं, वह तो उल्टा बोझ है। राग को छोड़ने से ही ये जीव भव सागर से तरते हैं।

इससे न करना राग किंचित् कहीं भी मोक्षेच्छु को।

उस रीत वीतराग हो वह भव्य भवसागर तरे ॥

— पंचास्तिकाय, १७२

अरे! राग तो भव से तिरने में नाव के बोझरूप है, इससे इस राग को ही जो तरने का साधन माने, उसकी नाव भव से कैसे तरेगी? राग तो आस्रव है, वह तो नाव में पानी भरनेवाले छिद्र के समान है, उसको रोकने के बदले उसको ही साधन मान लेगा तो उसकी नाव तरेगी नहीं, किन्तु भवसागर में डूब जाएगी। भाई! तेरी चैतन्य नाव में राग का छिद्र नहीं शोभता; चैतन्य नाव में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि वीतरागी गुण शोभते हैं।

कुन्दकुन्दस्वामी के वचन अर्थात् जिन वचन

नवतत्त्व की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है, किन्तु वह श्रद्धा भूतार्थ दृष्टि से होना चाहिए क्योंकि 'भूयत्थमस्मिदो खलु सम्माइट्टी हवइ जीवो' यह भगवान कुन्दकुन्दस्वामी का वचन है। कुन्दकुन्दस्वामी का वचन कहो या जिनवचन कहो, इसमें कोई अन्तर नहीं है। अतएव जहाँ भूतार्थ दृष्टि से देखा जाए, वहाँ आत्मा रागादि से भिन्न और संवर आदि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध स्वरूप से अनुभव में आता है और ऐसी अनुभूतिपूर्वक प्रतीति श्रद्धा / सम्यग्दर्शन है। उस अनुभूति में रागादि परभाव समाते नहीं, बाहर ही रहते हैं। सन्तों का सौहार्द और मोक्ष का मार्ग स्वाश्रय भाव में समाहित है

यह सम्यग्दर्शन स्वाश्रित भाव है। स्वाश्रित भाव शुद्ध होता है और पराश्रित भाव अशुद्ध होता है। स्वाश्रित ऐसे शुद्ध भाव से भव सागर को तरा जाता है, यह जैन शासन का महान सिद्धान्त है।

'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की'

समयसार २७२

अहो! स्व के आश्रय से मुक्ति और पर के आश्रय से बन्धन— ऐसा महा सिद्धान्त समझाकर वीतरागी सन्तों ने महान उपकार किया है। स्वाश्रय भाव में सभी सन्तों का सौहार्द समाहित है। पर के आश्रय से कभी भव सागर को तरते नहीं। जीव पर के आश्रय में लाभ मान-मानकर ही संसार में भ्रमता है। सन्त उसको स्व-पर की भिन्नता बताकर स्व का आश्रय कराते हैं। सभी सन्तों का सौहार्द और सम्पूर्ण मोक्षमार्ग स्वाश्रय भाव में समाहित है, उसमें किंचित भी पराश्रय नहीं। अहो! कितना स्वाधीन शोभनीक मार्ग!

स्वभाव की शुद्ध प्रतीतिरूप आत्मा का परिणमन, यह एक ही

सम्यग्दर्शन है, यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है और यही निश्चय है, इसमें अन्य किसी भाव का मेलजोल करके कहना अशुद्ध है—व्यवहार है। इसमें शुद्ध सम्यग्दर्शन भव से तरने का कारण होने से तीर्थ है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, चारित्र आदि सभी भावों में निश्चय और व्यवहार समझें। उसमें शुद्धता मोक्षमार्ग है। हे जीव ! आनन्द से चले आओ, मोक्ष का मार्ग सदैव खुला है।

धर्मी श्रावक का आचरण

सम्यग्दर्शन होने से मोक्षमार्ग खुला और ज्ञानमूर्ति आत्मा अपने सर्व गुणों से पूर्ण स्वसंवेदन में आया, फिर राग से भिन्न चैतन्य वस्तु का श्रेष्ठ ज्ञान हुआ। ऐसी दशा हो, तभी जीव धर्मी हुआ कहावेगा और इस धर्मी श्रावक का मूलभूत धर्म आचरण है। जो सच्चा श्रावक होना चाहता हो और भव से छूटना चाहता हो, उसे ऐसे ज्ञानमूर्ति आत्मा को दृष्टि में लेकर सदैव उसका चिन्तवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त धर्मी जीव को शुभराग के समय, भगवान के दर्शन-पूजा-स्वाध्याय-तीर्थयात्रा आदि भाव होते हैं, ऐसा शुभराग नहीं आवे, ऐसा नहीं, किन्तु उस शुभराग से भवसागर तर जाएँगे—ऐसा भी नहीं है। उसका मूल्य शुभराग जितना अर्थात् पुण्य जितना है, किन्तु उसका मूल्य संवर-निर्जरा जितना नहीं है। उस समय उस श्रावक के अन्तर में चैतन्यस्वभाव की रागहीन दृष्टि वर्तती है, वही भव सागर से तरने का कारण है। इसलिए उसको पहचान कर उसका सदा सेवन करो। ●●

[२३]

तेईसवाँ प्रवचन

श्रावक परम इष्ट की भाँति जैन धर्म को ही सेवता है,
 उसमें कथित बन्ध-मोक्ष के कारणों को बराबर
 जानता है, उनको एक दूसरे में मिलाता नहीं
 —ऐसी तत्त्वश्रद्धा श्रावक का मूल धर्म है।

धर्मी श्रावक के आचरण में पहला सम्यग्दर्शन है, यह बात श्री तारणस्वामी ने श्रावकाचार के वर्णन में बतायी है। श्रावक को प्रथमतः जीवादि सात तत्त्व के श्रद्धान के द्वारा सम्यग्दर्शन का आचरण करना चाहिए। सात तत्त्वों का यथार्थ वर्णन सर्वज्ञदेव के आगम में है। उसकी सच्ची पहचान करें, उसके पश्चात् ही पंचम गुणस्थानरूप श्रावकदशा होती है और मुनिदशा तो इससे भी बहुत ऊँची है।

सात तत्त्वों में पुण्य-पाप उस आस्रव में समाते हैं, वे संवर-निर्जरा में नहीं आते। जितने रागादि भाव हैं, वे बन्ध-कारण में आते हैं, वे मोक्ष-कारण में नहीं आते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग भाव मोक्ष का कारण है। जीव और अजीवतत्त्व बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसे तत्त्वों की पहचान का भी जिसको ठिकाना न हो और उनमें विपरीतता हो, ऐसे जीव को श्रावकदशा अथवा मुनिदशा कभी नहीं होती। सम्यग्दर्शन ही जहाँ नहीं, वहाँ श्रावकपना अथवा मुनिपना कैसा ?

ईश्वर कर्तृत्व मानने से पराधीनता आती है

जीवादि छह प्रकार के द्रव्य हैं, वे सभी अपने-अपने गुण-पर्यायसहित हैं। किसी का गुण-पर्याय दूसरे में जाता नहीं या दूसरे से होता नहीं। गुण-पर्याय सहित वस्तु अपनी-अपनी पर्यायरूप स्वयं परिणमित होती है, उसमें ईश्वर या अन्य किसी का हाथ नहीं है। अपने पूर्ण स्वभावरूप परिणमित आत्मा ही अपना स्वयं ईश्वर है। जगत का कर्ता-हर्ता हो, ऐसा तो कोई ईश्वर है ही नहीं। दूसरे को कर्ता माने तो वह आत्मा स्वयं स्वतंत्र अपना कर्ता नहीं रहता, पराधीन हो जाता है, और पराधीनपने में कभी मुक्ति का सुख नहीं होता।

जैनमार्ग की श्रद्धा से भव का अन्त

छह द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही चेतनस्वभाववाला महात्मा है, अन्य सभी अचेतन-अनात्मा है। जीव में असंख्य प्रदेश हैं, धर्मास्ति-अधर्मास्ति के भी इतने ही हैं। काल और परमाणु एक प्रदेशी हैं, आकाश द्रव्य अनन्तानन्त प्रदेशी है। पदार्थों का ऐसा स्व-प्रदेशीपन सर्वज्ञजिन के अतिरिक्त कौन जान सकता है? उस सर्वज्ञदेव के शासन प्रमाण से वस्तु स्वभाव की श्रद्धा करनी चाहिए। अहो! सर्वज्ञ का ऐसा जिनमार्ग पाकर स्व-पर तत्त्वों की और शुद्धात्मा की वास्तविक पहचान करो। इससे भव का अन्त आ जाएगा।

जैनधर्म में 'आत्मा-रंजन' है, कुगुरु के पास लोक रंजन है।

जिनेन्द्र मार्ग परम अहिंसामय है, उससे विरुद्ध अर्थात् रागादि हिंसा भाव से धर्म मनवानेवाले ऐसे कुगुरुओं का संग मुमुक्षु को सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि उनके संग से मिथ्यात्व की पुष्टि है, वे

कुगुरु राग की पुष्टि के द्वारा लोकरंजन करनेवाले हैं। राग से भिन्न आत्मा का रंजन करना, उन्हें आता नहीं, वीतरागमार्ग को वे जानते नहीं; इसलिए उनके पास आत्मरंजन नहीं। आत्मरंजन अर्थात् आत्मा का आनन्द, आत्मा की प्रसन्नता, आत्मा का अनुभव कैसे हो, उसका उपदेश उन कुगुरुओं के पास नहीं है, वे तो राग के द्वारा लोकरंजन की मिथ्या बातें करनेवाले हैं। अरे जीव! ऐसे जिन द्रोही जीवों के संग से तुझे क्या लाभ मिलनेवाला है? लोक को प्रसन्न करने में और लोक को अच्छा लगे, इसमें तो तूने अनन्त काल गँवाया और आत्मा का हित चूक गया, अतएव अब तो उस लोकरंजन को छोड़कर आत्मा किस प्रकार प्रसन्न हो, उसका उद्यम कर। लोक को प्रसन्न करने के लिये जो पैसे से या राग से परे चैतन्यतत्त्व के अनुभव करने को बतानेवाले वीतरागी सन्तों का विद्रोह करते हैं, ऐसे जीव अपना तो अहित करते हैं, किन्तु उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जीवों का भी अहित होता है। धर्मी जीव को ऐसे कुसंग से लाभ नहीं और उसकी पुष्टि वह करता नहीं। अरे! लोक प्रसन्न हो उससे मुझे क्या? लोकरंजन का मुझे क्या काम है? मुझे तो मेरा आत्मा शान्ति का वेदन प्राप्त करे और मेरा आत्मा आनंदित हो यही काम है। जिन मार्ग की विधि अनुसार मेरा आत्मा प्रसन्न हो, ऐसा आत्म-रंजन मेरा कर्तव्य है। राग या लोकरंजन मेरा कोई कर्तव्य नहीं, और उसमें मेरा कोई हित नहीं। पैसा खर्चने से कोई कुगुरु ऐसा कह दे कि तुम बड़े धर्मात्मा हो, तो धर्मी उस बात को नहीं मानता। भाई! धर्मीपन तो पैसा खर्चने से नहीं आ जाएगा, यह तो अन्तर के अपूर्व अनुभव की वस्तु है। धर्मी को पैसे का लोभ घटाकर जिनमन्दिर-

जिनवाणी आदि कराने का भाव आता है, उसमें शुभराग है किन्तु उस राग से अपना मोक्ष हो जाएगा, ऐसा धर्मी जीव नहीं मानता। राग से परे चैतन्यस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-आचरण द्वारा ही मोक्ष होता है। हे जीव! उत्तम जैन मार्ग पाकर अब तू कुगुरु के पास क्यों जाएगा ?

श्री तारणस्वामी कहते हैं:—

अनृतं अचेत उत्पादते, मिथ्या माया लोक रंजनं ।

पाषंडी मूढ विस्वासं, नरयं पतंति ते नरा ॥२४५ ॥

पाषंडी वचन विस्वासं, समय मिथ्या प्रकासये ।

जिन द्रोही दुर्बुद्धि जेन, आराध्यं नरयं पतं ॥२४६ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

पाखण्डी कुगुरु के स्थान में जाना भी उचित नहीं है। अरे भाई! ऐसे जैनधर्म को पाकर अब कुगुरु के स्थान में जाने का तुझे क्या काम ? जिनेन्द्रदेव के अनेकान्तमय वीतराग मार्ग को जो जानता नहीं और विपरीत मार्ग का उपदेश देता है, कुशास्त्रों को बताता है; राग-द्वेषादि हिंसा के आचरणों का पोषण करता है, ऐसे अज्ञानियों के कुमार्ग का सेवन तो दुर्गति का कारण है। हे भाई! ऐसा परम वीतराग अरहन्त मार्ग तुझे मिला, वीतराग सन्त-गुरु मिले, समयसारादि वीतरागी आगम मिले, तो ऐसे सत्यमार्ग को छोड़कर तू कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के स्थान में जाएगा ही नहीं, स्वप्न में भी उनका संग अथवा श्रद्धा करेगा नहीं। श्रेष्ठ जैन मार्ग परम हितकारी है, उसको पहचान कर अत्यन्त आदर से उसका सेवन कर। अरे! जगत में कुमार्ग बहुत प्रकार के हैं, वे सभी अहितकारी हैं। यह जैन

मार्ग एक ही परम हितकारी है और मोक्षमार्ग बतानेवाला है। जिनेन्द्र तीर्थंकर देवों ने उसका आदेश दिया है, गणधर मुनियों ने जिसकी साधना की है। ऐसा उत्तम जैन मार्ग महाभाग्य से तुझे मिला, उसको पाकर तू हे जीव! परम भक्ति से आत्मा की आराधना कर।

अरे! अब तो जिनमार्ग की नकल करके, मिला-जुलाकर और किसी की वस्तु अपने नाम से बताकर विपरीत प्ररूपणा करनेवाले मानार्थी जीव जगत को भ्रमित कर रहे हैं, मुमुक्षु को तो ऐसे जीवों का संग भी करना योग्य नहीं। अज्ञानी अकेले व्यवहार का उपदेश देकर शुभराग में ही जीवों को धर्म मनवाता है, किन्तु राग से परे शुद्ध चैतन्य का अनुभव करने को नहीं बताता, उल्टा उसका विरोध करता है, ऐसे जीव जिनमार्ग से विपरीत हैं, इससे उनका संग छोड़ना योग्य है। जो मन से भी इनका आदर करेगा तो वीतराग जिनमार्ग का, सच्चे सन्त-मुनियों का और धर्मात्माओं का द्रोह हो जाएगा अर्थात् मोक्ष के मार्ग का ही द्रोह हो जाएगा और तू संसार में भ्रमेगा। अतएव यदि अपना हित चाहता हो तो उन कुगुरुओं का संग छोड़, कुमार्ग का सेवन छोड़ और जिनमार्ग की सम्यक् श्रद्धा करके उसका सेवन कर, वह परम हित का कारण है।

जैन गुरुओं का संग सम्यक्त्वादि गुणों का पोषक है

मिथ्यामार्गी जीवों का उपदेश आत्म-अनुभव से शून्य है, मोक्षमार्ग से विपरीत है और राग का पोषक है, उसकी श्रद्धा करने से शुद्ध दृष्टि का लोप होता है और मिथ्यात्व की पुष्टि होती है, इसलिए इनके संग करने की बुद्धि छोड़कर आत्मा को जाननेवाले धर्मात्मा सन्त-गुरुजनों की सत्संगति करनी चाहिए उससे श्रद्धा

—ज्ञान की दृढ़ता होती है और वैराग्य भावना की पुष्टि होती है। अहो! जैनमार्ग में तो आत्मिक आनन्द की गाढ़ पुष्टि है। उसके परिचय और सेवन से सम्यक्त्वादि गुणों की शुद्धि और वृद्धि होती है। राग का अंशमात्र कर्तृत्व चैतन्यभाव में नहीं है—ऐसा अत्यन्त स्पष्ट वीतरागी जैन ज्ञानी सन्त ही बताते हैं। अन्य तो सभी राग से धर्म होने को कहकर मिथ्यामार्ग को पोषते हैं। इसलिए ऐसे मिथ्यामार्ग का सेवन छोड़कर वीतरागी गुणों के पोषक जैन गुरुओं की संगति कर।

ज्ञान का अनुभव ही महातीर्थ और वही जिनागम का सार

जैनधर्म में बताये गये शुद्धात्मतत्त्व की आराधना ही वास्तविक तीर्थ है। श्री तारण स्वामी कहते हैं:—

न्यानं तत्वानि वेदंते, सुद्ध तत्त्व प्रकासकं।

सुद्धात्मा तिअर्थ सुद्धं, न्यानं न्यान प्रयोजनं ॥२५०॥

— तारण तरण श्रावकाचार

शुद्धात्मा का प्रकाशक ज्ञान स्वयं तीर्थस्वरूप है, जिसने शुद्धात्मा का अनुभव किया, उसने परमार्थ तीर्थ यात्रा को, वह मोक्ष का कारण है और वह जीव जहाँ विचरे, उन सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा व्यवहार—तीर्थयात्रा है, वह पुण्य का कारण है।

सच्चे तीर्थ की या सच्चे आत्मा की पहिचान जीव ने कभी की नहीं। ज्ञान वही है, जो तत्त्वों को यथार्थ जानकर शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करे। ज्ञान का प्रयोजन ज्ञान ही है, अतएव ज्ञानस्वभाव के साथ जो तन्मय होकर परिणमे, वही ज्ञान है; राग तो कहीं ज्ञान का प्रयोजन नहीं, राग के साथ ज्ञान जुड़ जाए (तन्मय हो जाए) तो वह

वास्तविक ज्ञान ही नहीं। सच्चा ज्ञान तो अन्तर स्वभाव में तन्मय होकर आत्मा को साधता है। ऐसा स्वानुभव ज्ञान मोक्षमार्ग है, वह समस्त शास्त्रों का सार है, वही सबसे बड़ा तीर्थ है और वह केवलज्ञान का दातार है। जिनागम का सार स्वानुभव में समाहित है।

शुद्ध आत्मा का अनुभव करके शुद्ध रत्नत्रयरूप में परिणमित वीतरागी सन्त और तीर्थकर जहाँ विचरे, वे क्षेत्र (सम्मोदशिखर, गिरनार आदि) उपचार से तीर्थ हैं और जीवों के शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवरूप परिणति परमार्थ तीर्थ है, उसके द्वारा भव से तरते हैं। परमार्थ बिना अकेले व्यवहार से तरते नहीं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा जिसने स्वसंवेदन में लिया, वह जीव स्वयं तीर्थस्वरूप है। अहो! जगत में वीतरागमार्ग में सम्यग्ज्ञान ही सबसे बड़ा तीर्थ है। वह सम्यग्ज्ञान राग से जुड़ा हुआ नहीं, किन्तु राग से भिन्न है। राग को एक ओर रखकर साधक जीव अपने ज्ञान को अन्तर स्वभाव में जोड़कर केवलज्ञान साधता है, इस प्रकार सम्यक् मति-श्रुतज्ञान के द्वारा जोड़कर वह केवलज्ञान को बुलाता है। बाह्य में मान प्रतिष्ठा या पुण्य पदवी मिले, वह कोई ज्ञान का फल नहीं। ज्ञान का फल तो वीतरागता या मोक्ष है। अहो! ऐसे सम्यग्ज्ञान की आराधना करना ही जैनों का मुख्य आचार है, वह भव समुद्र से तिरने का तीर्थ है।

शुभराग के द्वारा ज्ञान का प्रकाश नहीं होता

सम्यग्ज्ञान उसको कहते हैं जो शुद्धात्मा का प्रकाशक हो। अज्ञानी शुभराग करे तो भी उसे शुद्धात्मा का प्रकाश (अनुभव) नहीं होता, क्योंकि शुभराग तो कोई ज्ञान का स्वरूप नहीं है, ज्ञान

भिन्न वस्तु है, राग भिन्न वस्तु है। राग भले हो; जिनपूजा, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा आदि भाव धर्मी के होते हैं किन्तु उस राग के द्वारा शुद्धात्मा का संवेदन नहीं होता, तथा उसके द्वारा भविष्य में मोक्ष हो जाएगा, ऐसा भी नहीं है। भगवान ने तो स्वसंवेदनज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है, राग को मोक्ष का कारण नहीं कहा।

व्यवहार के स्थान में व्यवहार होता है, वह हो ही नहीं—ऐसा उसका निषेध नहीं, परन्तु उसके आश्रय से मोक्ष सध जाएगा—ऐसा भी नहीं है। स्वरूप में लीनता नहीं होवे, तब तक ज्ञानी को भी भक्ति-पूजा-तीर्थयात्रा का भाव होता है, परन्तु उसकी मर्यादा कितनी? कि राग की महत्ता और पुण्यबंधन हो, उतनी उसकी सीमा है, उससे आगे बढ़कर धर्म की सीमा में उसका प्रवेश नहीं है। अतः राग के द्वारा जो कोई धर्म माने तो वह धर्म की मर्यादा को भंग करता है। ज्ञान राग के द्वारा सधता नहीं और ज्ञान राग को साधता नहीं, दोनों की दशा भिन्न-भिन्न है, जाति अलग है। ज्ञान का स्वप्रयोजन आत्मा को साधने का है, ज्ञान के द्वारा संसार की आबरू-कीर्ति आदि का प्रयोजन नहीं है। धर्मी श्रावक ऐसे ज्ञान को समझकर उसकी आराधना करता है।

ज्ञानचेतना का अद्भुत स्वरूप वर्णनातीत है

श्री तारणस्वामी कहते हैं—

न्यानेन न्यानमालंबं, पंच दीप्ति प्रस्थितं।

उत्पन्नं केवल न्यानं, सुद्धं सुद्ध दिष्टितं ॥२५१॥

— तारण तरण श्रावकाचार

ज्ञान के द्वारा ज्ञान का अवलम्बन करने से केवलज्ञान सधता है,

उसमें ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है। सम्यग्ज्ञान भव्य जीव को मोक्षमार्ग में चलने का नेत्र है, जिस प्रकार नेत्र बिना मार्ग दिखता नहीं; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र के बिना मोक्ष का मार्ग दिखता नहीं। साध्य केवलज्ञान का साधन भी ज्ञानरूप ही है, राग उसका साधन नहीं। आत्मज्ञान हो तो केवलज्ञान को साधे, किन्तु आत्मज्ञान हो तो अन्य हजारों जीवों को भी समझा दे, ऐसा कोई ज्ञान का लक्षण नहीं है। ज्ञान का सम्बन्ध अपने आत्मा के साथ है। दुनिया समझे या नहीं समझे, उसके साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। मूक-केवली होते हैं, उनके केवलज्ञान होने पर भी भाषा का योग नहीं होता। किसी को सम्यग्ज्ञान होने पर भी बराबर बोलना न आता हो, सम्यग्दृष्टि मेंढक आदि के शब्दरूप भाषा कहाँ है? तो भी अन्तर में आत्मा का ज्ञान है, वह केवलज्ञान को साधने का कार्य करता रहता है। अहो! ज्ञानचेतना का अद्भुत स्वरूप है, उसको तो ज्ञानी ही जानता है।

अज्ञानी द्रव्यलिंगी साधु होकर मन्दरागरूप व्यवहारचारित्र पालकर ग्यारह अंग पढ़ा हो तो भी अन्तर में चैतन्य के सुख का किंचित् भी स्वाद उसे नहीं आया और आत्मा के अनुभव के बिना वह संसार में ही भ्रमण करता रहा। चैतन्य के प्रकाशक अतीन्द्रिय ज्ञान के खिले बिना, अकेले शास्त्र पठन से मोक्षमार्ग हाथ नहीं आयेगा और आत्मा का वास्तविक लाभ नहीं होगा। सम्यग्दृष्टि मेंढक भी हो तो शास्त्र पठन के बिना, ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करेगा। वह ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, अन्दर ज्ञान भण्डार आत्मा है, वह स्वयं ज्ञानरूप परिणमित है। मैं स्वयं ज्ञानमय

अनन्त गुणों का भण्डार हूँ, ऐसे विश्वासपूर्वक अन्तर्मुख होने से सम्यग्ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त बाहर के किसी क्रियाकाण्ड या शुभराग के द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अहो! आत्मा का ज्ञान तो केवलज्ञान को साधता है, मति-श्रुत आदि पाँच ज्ञान में परिणत ऐसे अखण्ड ज्ञानस्वरूपी शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वह केवलज्ञान के लिये स्वतन्त्र होगा, बीच में अवधि-मनःपर्ययज्ञान किसी के हो या न हो तो भी स्वसन्मुखी मति-श्रुतज्ञान में केवलज्ञान को साधने की शक्ति है। श्रुतज्ञान, स्वभाव में लीन होकर अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान को साध लेता है और यही ज्ञान का प्रयोजन है। बीच में देव पद आवे या तीर्थकर पद आवे, वह कोई ज्ञान का प्रयोजन नहीं है, वह तो सभी राग का फल है। ज्ञान तो आत्मा को शुद्धरूपेण ही प्रकाशित करता है।

भव्य जीव का नेत्र—सम्यग्ज्ञान

देखो! ज्ञान नेत्र का खुलासा करते हुए जिनमार्ग के अनुभवी श्री तारणस्वामी कहते हैं—

न्यानं लोचन भव्यस्य जिन उक्तं सार्धं ध्रुवं।

सुयं एतानि विन्यानं सुद्ध दिस्टि समाचरेत् ॥२५२॥

— तारण तरण श्रावकाचार

अहो! ऐसा सम्यग्ज्ञान भव्य जीव की आँख है। आत्मा के परम आनन्दसहित देखनेवाले दिव्य ज्ञानचक्षु भव्य जीवों के होते हैं। सम्यग्दृष्टि मति-श्रुतज्ञानरूप अतीन्द्रिय चक्षु के द्वारा निज स्वरूप को देखते हुए मोक्षमार्ग को साधते हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही मोक्षमार्ग का सम्यक् आचरण होता है। ज्ञानमूर्ति आत्मा, अथवा उसका

मोक्षमार्ग, वह अतीन्द्रिय है; इन्द्रिय चक्षुओं के द्वारा वह दिखता नहीं, वह तो स्वसंवेदन के अतीन्द्रिय चक्षु द्वारा दिखता है। अन्य संस्कृत-व्याकरण-काव्य आदि की जानकारी हो अथवा न हो, भाषण करना आता हो अथवा न आता हो, किन्तु अन्तर में श्रुतज्ञान की दिव्य चेतना के द्वारा जो अपने आत्मा का चिन्तवन करता है, वह ज्ञानी है, वह धर्मी है, वह मोक्ष का पंथी है। अज्ञानी के ज्ञान चक्षु खुले नहीं; इसलिए वह मार्ग को देखता नहीं, मार्ग को देखे बिना चलेगा कैसे? इसलिए हे मोक्षार्थी जीव! मोक्ष पंथ पर चलने के लिये तुम आत्मा का ज्ञान करो। वह ज्ञान अपने आत्मा का ही अवलम्बन करनेवाला है, अन्य किसी का अवलम्बन उसमें नहीं है। ऐसे ज्ञान द्वारा भव सागर से तरना होता है और मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

अचक्षुदर्शन से अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा को देखनेवाले धर्मी ही आत्मानुभव के पात्र हैं, इसे श्री तारणस्वामी जिनोक्त वाणी के अनुसार कहते हैं—

उबकारं च वेदन्ते, ह्रींकारं (स्मृत) उच्यते ।

अचक्षु दर्शनं जोयन्ते, मध्य पात्र सदा बुधै ॥२६२॥

— तारण तरण श्रावकाचार

धर्मी जीव आत्मा के 'अचक्षु दर्शन' द्वारा अंतर में ॐ का वाच्यरूप शुद्ध आत्मा को देखता है, ऐसा व्रतधारी धर्मात्मा मध्यम पात्र हैं; उत्कृष्ट पात्र मुनिराज हैं, जघन्य पात्र सम्यग्दृष्टि-अव्रती हैं। यहाँ अचक्षुदर्शन से आत्मा को देखने को कहा है, अचक्षुदर्शन अर्थात् क्या? सामान्यरूप अचक्षुदर्शन तो एकेन्द्रिय आदि सभी

जीवों के होता है, उसकी यहाँ बात नहीं, यहाँ तो 'अचक्षु' अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों से परे ऐसे अतीन्द्रिय दर्शन द्वारा आत्मा का देखना, अनुभव करना, उसको अचक्षुदर्शनरूप कहा है। ऐसा अचक्षुदर्शन धर्मी के ही होता है। यह बात परमात्म प्रकाश में भी आती है (देखो, परमात्म प्रकाश अध्याय २, दोहा ३४ को भाषा टीका)

यह बाहर के नेत्र आत्मा के देखने हेतु काम नहीं आते। पाँच इन्द्रियों और मन के अवलम्बन के बिना स्वयं अपने स्वसंवेदन से अपने को जाने, ऐसा अतीन्द्रियस्वभावी आत्मा है। ऐसा इन्द्रियातीत ज्ञान मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। भूतार्थदृष्टि से जो शुद्धात्मा को देखता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, वैसे ही भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा के भूतार्थस्वभाव को अनुभवता है, वह जैन शासन है, स्वभाव को देखनेवाली पर्याय भी उसी में समा गयी, इसलिए 'शुद्धनय' को भी भूतार्थ कहा है। द्रव्य-पर्याय का भेद धर्मी की दृष्टि में नहीं रहता, अभेद स्वभाव को अनुभूति में भेद दिखता नहीं, एकरूप ज्ञायकस्वभाव अखण्ड आत्मा धर्मी की अनुभूति का विषय है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष पर्यायें होती हैं।

धर्मी जीव को सुपात्र दान की भावना

धर्मी श्रावक सदैव सुपात्र दान का चिन्तन करता है, अर्थात् यदि कोई रत्नत्रयवन्त मुनि या धर्मात्मा आवे तो सुपात्र दान करूँ —ऐसी भावना भाता है। पात्र जीवों को जानकर बहुमान से दान करता है, रत्नत्रयवन्त जीवों को दान देते हुए स्वयं में रत्नत्रय धर्म

का उल्लास जागृत होता है। शास्त्रों में कहा है कि सुपात्र धर्मात्मा को देखकर जो जीव प्रसन्न और प्रमुदित होता है, उसको तीन लोक के जीव प्रसन्न दृष्टि से देखते हैं। पात्रदान के समय श्रावक के जो सम्यक्त्वादि गुण होते हैं, वे कर्म क्षय के कारण होते हैं और शुभराग के द्वारा उत्तम पुण्य बँधता है, उसका फल स्वर्गादि है।

यह ध्यान रखे कि पात्रदान का फल स्वर्गादि सुगति है, किन्तु मोक्ष नहीं। मोक्ष तो वीतरागी शुद्धोपयोग के द्वारा ही प्राप्त होता है, उस शुद्धोपयोग में वंद्य-वंद्यक भाव या देने-लेने की वृत्ति नहीं रहती। अतएव अकेले पात्रदान के शुभराग के द्वारा कर्मक्षय होना कोई कहे, तो वह यथार्थ नहीं। सिद्धान्त तो ऐसा है:—

स्वद्रव्य के चिन्तन में वीतरागता है, परद्रव्य के चिन्तन में राग है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

स्वद्रव्य के रक्षक तुरन्त होओ।

स्वद्रव्य के धारक तुरन्त होओ।

परद्रव्य की धारकता तुरन्त तजो।

सुपात्र दान का, रात्रिभोजन त्याग का वर्णन श्री तारणस्वामी ने विस्तार से किया है, उसमें सुपात्र और अपात्र की पहचान करने की मुख्यता है। जिसको पात्र-अपात्र के बीच का कोई विवेक नहीं, वह तो कुपात्र दान से दुर्गति में जाता है। धर्मात्मा को बाह्य पात्र-अपात्र के बीच का सही विवेक है और अन्तर में राग तथा ज्ञान की भिन्नता का विवेक है, अतएव वह सुपात्र दान के शुभराग के समय अन्तर में ज्ञानपिण्ड शुद्ध आत्मा की दृष्टि का परिणाम वर्तता रहता

है, उसके बल से उसको संवर-निर्जरा-मोक्ष होता है—ऐसा समझना। राग के द्वारा तो आस्रव होता है, संवर नहीं परन्तु श्रावक धर्मात्मा को ऐसा भाव आता है, अन्य धर्मात्माओं को देखकर उसका हृदय उल्लसित हो जाता है—अहो! मुनि आदि धर्मात्मा हमारे यहाँ पधारें और मैं भक्ति से उनकी सेवा करूँ, आहार कराऊँ, यह प्रसंग धन्य है। श्रेयांसकुमार, भरत चक्रवर्ती, रामचन्द्रजी आदि महापुरुषों ने मुनिवरों को आहारदान दिया, उसका अद्भुत रोमांचकारी वर्णन पुराणों में आया है। इस प्रकार धर्म की प्रतीतिपूर्वक दिया जानेवाला दान तो श्रावक का सदैव का आचार है, श्रावक के सदैव ऐसा भाव आता है, मुनि आदि सुपात्र की बाट देखकर ही स्वयं पीछे भोजन करता है। अन्तर में राग और ज्ञान दोनों की धाराओं को भिन्न रखता है, एक-दूसरे में मिलाता नहीं। ऐसा जैन श्रावकपन है। ●●

[२४]

चौबीसवाँ प्रवचन

सम्यक्त्व भजो, मिथ्यात्व तजो,
जो सुख चाहे, निज आतम तुं।
स्वतत्त्व ग्रहो बस! श्रेष्ठ ज ते,
फरमान ग्रहो, जिन शासन नुं॥

श्री तारण स्वामी के श्रावकाचार की गाथाओं का वाँचन है, उसमें वे कहते हैं कि सुख का कारण सम्यक्त्व है और दुःख का कारण मिथ्यात्व है—

मिथ्यातं पर दुष्घ्यानी, संमित्तं परमं सुषं।
तत्र मिथ्या माया त्यक्तंति, सुद्धं संभित्त सार्धयं ॥२९६॥

अहो! सम्यक्त्व स्वयं परम सुख है, भविष्य में सुख मिलेगा—
ऐसा नहीं परन्तु वर्तमान में ही सम्यक्त्व में आत्मा के अतीन्द्रिय परम सुख का वेदन है। इसलिए हे जीव! ऐसे सम्यक्त्व को तू मोक्षमार्ग में अपना साथी बना और मिथ्यात्व को परम दुःखरूप जानकर उसका साथ छोड़। ऐसे क्षेत्र को भी छोड़ दे।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जो बात कही है, वही बात यहाँ श्री तारणस्वामी ने लिखी है। समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि:—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् भैकाले भिजगत्यपि ।
श्रेयो श्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यात् तनुभृताम ॥

— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३४

त्रण काल रु त्रणलोक में सम्यक्त्व सम नहिं श्रेय है,
मिथ्यात्व सम अश्रेय को नहीं जगत में इस जीव को ॥

ऐसा जानकर सब प्रकार से मिथ्यात्व का प्रसंग छोड़कर
सम्यक्त्व की आराधना करो - ऐसा उपदेश है ।

तेरे हाथ में जैनधर्मरूप चिन्तामणि आया है तो उसका सेवन
करके सुखी हो

देखो, यह श्रावक के मूल आचार की बात चलती है। वह जानता है कि रोग, निर्धनता, अपमान यह वास्तविक दुःख का कारण नहीं तथा धन, आबरू, प्रशंसा यह सुख का कारण नहीं। मेरे चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-आराधना ही सुख है और चैतन्य से विरुद्ध ऐसे परभाव ही दुःख हैं। उसमें भी मिथ्यात्व परम दुःख था, वह तो जिनमार्ग की सेवा और आराधना के प्रताप से अब हमसे छूट गया। अहो! जैनधर्म के प्रताप से दुर्गति में जन्म लेना छूट गया और परम मोक्ष सुख की ओर प्रयाण हुआ। अहो! ऐसे जिनधर्म की क्या बात! यह तो सुख का चिन्तामणि है, इसके महिमा वचनातीत है। इसको भूलकर कुमार्ग के सेवन से जीव अनन्त दुःख भोग रहे हैं। सम्यग्दर्शन ही उन दुःखों से छुड़ानेवाला है और परम सुख देनेवाला है।

अरे! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को जो सेवे, उसके दुःख की तो बात ही क्या! परन्तु सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के समीप आकर भी जो

उनके द्वारा कथित आत्मस्वरूप को समझते नहीं, जानते नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन करते नहीं, वे जीव भी दुःख से छूटते नहीं और आत्म सुख नहीं पाते। इसलिए कहते हैं कि हे भव्य! इस अवसर में अभी तू सम्यक्त्व को धारण कर ले।

अरे! ऐसा मार्ग जाने बिना जगत की समझदारी या बाहर की विचक्षणता और बड़ी-बड़ी इज्जत-आबरू, यह कोई आत्मा के हित में काम नहीं आती। जैनधर्म और अन्यमत एक-से नहीं, उनको एक-सा मानना सत्य का बड़ा अनादर है। अरे! कहाँ वीतरागी जैनधर्म और कहाँ राग में धर्म माननेवाले अन्य कुधर्म! इसमें समानता नहीं, किन्तु बहुत बड़ा अन्तर है, एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं। अरे भाई! तेरे हाथ में जैनधर्म का चिन्तामणि आया है, तो उसके सेवन से अपना हित कर ले। उसको छोड़कर अन्य की ओर मत देख।

मोक्षमार्ग में तेरा साथी सम्यग्दर्शन है, राग तेरा साथी नहीं

सम्यग्दर्शन में परम सुख का वेदन है और अल्प काल में पूर्ण मोक्ष सुख होगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक अभी नरक में है परन्तु परम सुख का वेदन कर रहे हैं, और थोड़े वर्षों के पश्चात् तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। जितनी कषाय है, उतना दुःख का वेदन भी है, किन्तु जिस कषाय का कोई अणु उसमें नहीं, ऐसे चैतन्यभाव का परिणमन भी चालू है और उतने सुख का वेदन है। अहा! सम्यग्दर्शन का महान मूल्य जगत जानता नहीं। एक ओर अकेला सम्यग्दर्शन और दूसरी ओर सम्यग्दर्शन रहित व्रत-तप, शास्त्रज्ञान आदि सबको रखो तो उसमें सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ है। सम्यग्दर्शन हीन व्रतादि का मूल्य धर्म में कुछ भी नहीं है। वह जीव

को किंचित् सुख नहीं दे सकता, वह मोक्ष पंथ में साथी नहीं और व्रत हीन भी सम्यग्दर्शन हो तो भी वह जीव के परम सुख का दातार है, वह मोक्ष पंथ में साथी है। ऐसा जानकर हे भव्य! मोक्षपंथ में तू सम्यग्दर्शन को अपना साथी बना। दुनिया तेरी बात माने या न माने किन्तु सम्यग्दर्शन के प्रताप से अल्पकाल में तू केवलज्ञान पायेगा।
रे जीव! मिथ्यात्व पोषक कुसंग तू क्यों जोड़ता है? उसका संग छोड़

मिथ्यात्व का अणु भी अत्यन्त बुरा है, उस भाव का सेवन छोड़ने योग्य है और उन जीवों का संग भी छोड़ने योग्य है। ऐसे जीव का मिथ्यात्व भाव तो उसके पास रहा, फिर भी तू उसका संग क्यों जोड़ता है? मिथ्यात्व की गन्ध भी तुझे कैसे भाती है? क्या मिथ्यात्व का तुझे दुःख नहीं लगता? अरे! अनन्त संसार के घोर दुःख जीव ने मिथ्यात्व के कारण ही भोगे, अतएव अब जो तू दुःख से डरता हो और सुख चाहता हो तो मिथ्यात्व को अत्यन्त बुरा जानकर उसका सेवन छोड़ और ऐसे जीवों को या ऐसे क्षेत्र को भी तू छोड़ दे, जहाँ अपने श्रद्धा-ज्ञानादि की पुष्टि तथा रक्षा न होती हो, उसमें प्रतिकूलता होती हो, ऐसा संग तू नहीं कर। मुमुक्षु को तो ऐसा कुसंग रुचेगा ही क्यों? भले व्रतादि करता हो, शास्त्र का ज्ञाता हो, किन्तु जो मिथ्यामार्ग का पोषण करता हो, ऐसे जीव का संग तू नहीं कर। पद्मनन्दी पच्चीसी में उपासक संस्कार की २६वीं गाथा में कहते हैं कि—

तं देशं तं नरं तत् स्वं तत् कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रत खंडनम्॥

जिसके संग से व्रत का खण्डन होता हो या सम्यक्त्व में दोष लगता हो—ऐसे देश का, ऐसे पुरुष का तथा ऐसे धन आदि का आश्रय धर्मी जीव नहीं करे, उसको छोड़ दे।

सभी छूट जाए, प्राण छूट जाए किन्तु सम्यक्त्व नहीं छूटे

श्री तारण स्वामी कहते हैं:—

मिथ्या संग न कर्तव्यं, मिथ्या वास न वासितं ।

दूरेहि त्यजंति मिथ्यात्वं, देसो त्यागं च तित्तयं ॥२९४ ॥

मिथ्या दूरेहि वाचंते, मिथ्या संग न दिस्टंते ।

मिथ्या माया कुटुम्बस्य, तित्ते विरचे सदा बुधै ॥२९५ ॥

हे भाई! तेरे से चारित्र्य व्रत न पले तो तू अव्रती रह, गृहस्थ रह, किन्तु मार्ग की श्रद्धा को नहीं छोड़। जिनमार्ग को अन्यथा नहीं मान। गृहस्थपने में भी सम्यक् श्रद्धा के द्वारा तेरा मोक्षमार्ग चालू रहेगा। मिथ्यादृष्टि संसारमार्गी है और सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है। सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिये देश छोड़ना पड़े तो देश छोड़ दे, कुटुम्ब छोड़ दे, धन छोड़ दे, अरे! प्राण भी छोड़ दे, किन्तु मिथ्यादृष्टि के संग में सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं हो। अरे! सम्यक्त्व में चैतन्य का सुख मिला, फिर जगत में अन्य किसी का क्या काम ?

मिथ्यात्व के महापाप से बचने के लिये हे भव्य! तू मिथ्यात्व पोषक कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को, मिथ्यादृष्टि जीवों को तथा ऐसे माता-पिता, भाई-बहिन अथवा पति-पत्नी को भी दूर से छोड़ दे अर्थात् उनके साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं रख। माता-पिता, भाई-बहिन या पति-पत्नी आदि कोई कुधर्म को मानता हो तो वह अपना धर्म कैसे छोड़ेगा। ऐसा विचार करके बिना किसी शर्म के

कुधर्म को बेधड़कपन से छोड़ दे। लेकिन सम्बन्ध की बात अलग है, भले एक साथ रहे, सबसे हिल-मिलकर रहे, किन्तु उस भाई-बहिन या माँ-बाप आदि की शर्म से तू कुधर्म का, अथवा कुगुरु का आदर नहीं कर, उनकी बात मानना नहीं और परम हितकर ऐसे सत्य जैनधर्म को छोड़ना नहीं। संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु छोड़ना पड़े तो छोड़ दे, किन्तु मिथ्यात्व का सेवन नहीं कर और न धर्म को छोड़। अपने सम्यक्त्व की रक्षा के लिये और मिथ्यात्व से बचने के लिये, तू मिथ्या के पोषण करनेवाले भाई को छोड़ दे, बहिन को छोड़ दे, माता को या पुत्र को छोड़ दे, धन को, देश को, आबरू को अथवा शरीर को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ दे, किन्तु धर्म-श्रद्धा में ढीला नहीं पड़ और असत् धर्म का सेवन नहीं कर। चाहे जितनी प्रतिकूलता आवे परन्तु सम्यक्त्व से तू किंचित् भी नहीं डगमगा। निःसन्देह जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ धर्म की अनुकूलता ही है, उसके धर्म में प्रतिकूलता करने की जगत में किसी की शक्ति नहीं है।

चाहे जितने दया, दान करे परन्तु जहाँ मिथ्यात्व की शल्य लगी है, वहाँ आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता और जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ आत्मा के हित को कोई भी अटका नहीं सकता। इसलिए हे सुज्ञ बुद्धिमान जीवो! मिथ्यात्व सेवन के महापाप से अपनी आत्मा को सब प्रकार से छुड़ाओ और परम कल्याणरूप सम्यक्त्व का सभी उद्यम से सेवन करो। ऐसे आत्महित के कार्य में किसी की शर्म नहीं करना अथवा उसमें विलम्ब नहीं करना। कोई विशेष बुद्धिवाला हो, धनवाला हो, या प्रधान आदि हो तो उन्हें बता दो कि

हमें धर्म में दूसरी बात समझना नहीं है, हमारे वीतरागी धर्म के अतिरिक्त अन्य मिथ्यामार्ग की गन्ध भी हमें नहीं चाहिए। ऐसे मिथ्यात्व के संस्कार को जड़ मूल से निकाल डालो। इस भाँति अनेक प्रकार से सम्यक्त्व की महिमा बताकर उसकी आराधना का तथा मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश दिया है... आज ही उसकी आराधना का अवसर है।

मुमुक्षु को रात्रि भोजन आदि हिंसा शोभती नहीं

श्री तारण स्वामी कहते हैं:—

जीव रष्या षट् कायस्य, संकये सुद्ध भावनं।

स्त्रावगं सुध दिस्टी च, जलं फासू प्रवर्तते ॥३०५॥

—तारण तरण श्रावकाचार

सम्यग्दृष्टि श्रावक के जीव रक्षा का भाव होता है तथा पानी प्रासुक (विधिपूर्वक छाना हुआ) प्रयोग करता है। यह आत्मा अन्य का जीवन-मरण कर सकता है—ऐसा कोई अभिप्राय धर्मी का नहीं है, उसका जीवन तो उसकी आयु के आधीन है—ऐसा वह जानता है, किन्तु उस जीव के परिणाम में ही पर की हिंसा का तीव्र पाप परिणाम नहीं होता, अतएव बाह्य में भी अभक्ष्य का भक्षण अथवा बिना छाना, अनछाना पानी वह प्रयोग नहीं करता। एक बूँद जल में असंख्यात त्रस-स्थावर जीव होते हैं, ऐसे जीवों की हिंसा से बचने के लिये धर्मी जीव के अप्रासुक जल का तथा रात्रि भोजन आदि का त्याग होता है। रात्रि भोजन श्रावक को शोभता नहीं। मुमुक्षु वह नहीं करता, व्यवहार आचरण में भी धर्मी के सभी ओर का विवेक बार-बार होता है। शुद्ध चैतन्यतत्त्व की दृष्टि तो मुख्य

रूप में वर्तती ही है और उसके साथ व्यवहार भी चोखा होता है। जहाँ शुभराग से चैतन्य की भिन्नता अनुभव में आ गयी, वहाँ अशुभराग में लीनता कैसे होगी? धर्मात्मा तो सम्यक्त्वादि शुद्ध भाव से लक्षित है, कषाय की मन्दता के उपरान्त अन्तर में राग से परे चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप कोई अद्भुत दशा उसके निरन्तर वर्तती है।

अहो! जैनधर्म के निश्चय-व्यवहार दोनों अलौकिक हैं। यह समझते हुए वस्तु का स्वभाव समझाते हैं और उसे समझ लेने का अलौकिक फल है। सच्चा गुरु सदैव यही समझाता है।

पंच परमेष्ठी की सच्ची पहचान, उसका फल आत्मज्ञान

जैन शासन में पाँच परमेष्ठी भगवन्त परम गुरु हैं, उनकी परमार्थ पहिचान के लिये श्री तारण स्वामी ने गाथा ३२३ से ३४५ में उनका वर्णन किया है, उसमें कहते हैं कि—

देवं च जिनं, उत्कं, न्यान मयं अप्प सद्भावं ।

नंत चतुष्टय जुत्तो, चौदस प्राण संजदो होई ॥३२३॥

देवो परमिस्टी मइयो, लोकालोक लोकिंतं जेन ।

परमप्पा ज्ञानं मइयो, तं अप्पा देह मज्झमि ॥३२४॥

अरिहन्त परमेष्ठी अनन्त चतुष्टय युक्त हैं और १४ प्राण सहित मनुष्य लोक में विचरण करते हैं। सिद्ध भगवान परमात्म पद में स्थित लोकाग्र में विराजमान हैं और लोकालोक को देखते हैं। जैसे वे अरिहन्त और सिद्ध भगवान ज्ञानमय देव हैं, वैसे ही मैं इस देह के मध्य ज्ञानमय आत्मा हूँ—ऐसा धर्मी जीव जानता है। ऐसी समझ पूर्वक वह सम्यग्दृष्टि जीव अरिहन्त और सिद्ध भगवन्तों को पूजता

है। इसके उपरान्त आचार्य-उपाध्याय-साधु जो रत्नत्रय गुणसहित परमेष्ठी हैं, वे पूज्य हैं। परम इष्ट ज्ञान को जो ज्ञानमय होकर साधते हैं, वे परमेष्ठी हैं। जगत के भव्य जीवों के ऊपर उन पंच परमेष्ठी भगवन्तों का परम उपकार है। उनको पहिचानने से आत्मा का शुद्ध स्वरूप पहिचाना जाता है और अपूर्व कल्याण होता है।

रत्नत्रय के द्वारा साध्यरूप शुद्धात्मा को साधता है, वह साधु है। साधुपन बाह्य में नहीं; साधुपन तो अन्तर में-ध्येय में लीन हुई पर्याय में है, वह मोक्ष को साधता है।

सम्यक्त्व की शुद्धि के हेतु देव-गुरु की पहिचान

आचार्य हो, उपाध्याय हो या साधु हो या इनसे कम सम्यग्दृष्टि हो, वे सब चेतनारूप होकर एक आत्मा को ही भाते हैं और भव्य जीवों ने उनके श्रीमुख से ऐसे चेतनामय आत्मा का श्रवण किया है, अहो! सम्यक्त्व की शुद्धि के हेतु ऐसे देव-गुरु को पहिचान कर उनकी पूजा करना कर्तव्य है।

देव गुणं पूज सार्धं च, अंगं संमित्त सुद्धये।

सार्धं न्यान मयं सुद्धं, संमित्त दरलन उत्तमं ॥३४३॥

प्रथम तो सम्यक्त्व की बुद्धि के लिये देव-गुरु को बराबर पहिचानना चाहिए, उनको पहिचानने से पूजन भक्ति का भाव आता है, तथा उनकी पहिचान से आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी पहिचाना जाता है। इस भाँति देव-गुरु की पहिचानपूर्वक अपने ज्ञानमय शुद्ध आत्मा को भी ध्याओ, जानो-अनुभवों, वह उत्तम सम्यग्दर्शन है। जो ज्ञान की आराधना करते हैं और पूजने योग्य आत्मतत्त्व का अनुभव करते हैं, वे शुद्ध ज्ञानमय जीव जगत में पूज्य हैं।

धर्मी जानता है कि अनन्त गुणों का परमेश्वरपना अपने में ही भरा है। मेरा भगवान, मेरा आत्मदेव, मेरे में ही है, मेरे से बाहर नहीं, मुझमें उसे मैं स्पष्ट देखता हूँ।

‘मेरो धनी नहिं दूरदिसंतर, मोहि में है मोहे सूझत नीके।’

इस प्रकार धर्मी जीव अपने परमात्मतत्त्व को अपने में ही देखता है। अहो! अचिंत्य शक्तिवाला आत्मा अपना चैतन्य चिन्तामणि देव अपने में ही अनुभव से देखा, वहाँ अब धर्मी को जगत के किस पदार्थ की आवश्यकता रही? अन्य कौन सी पकड़ रही? अपनी आत्मा के सिवाय अन्य कोई परिग्रह धर्मी के ज्ञान में नहीं। ऐसा अनुभव पंच परमेष्ठी की परमार्थ भक्ति है।

यह आत्मा परमात्मा का मन्दिर है, उसमें विराजमान देव की आराधना करो।

देखो तो सही, धर्मी की अलौकिक दृष्टि! स्वसन्मुख होकर बारम्बार वह अध्यात्म की भावना घोंटता है। श्री तारण स्वामी ने परमात्मतत्त्व की भावना बारम्बार घोंटी है। हे जीव! **‘आत्मानं परमात्मानं’** आत्मा ही स्वयं अपने को साधकर परमात्मा होता है। भगवान महावीर तक अनन्त तीर्थकर पूर्व में हुए और सीमन्धरादि तीर्थकर अभी विराजमान हैं, उन सभी तीर्थकरों ने ऐसा कहा है कि सर्वज्ञस्वभावी देव आत्मा स्वयं है। एक-एक आत्मा स्वयं परमात्मा का मन्दिर है और सर्वज्ञ शक्तिवाला देव उसमें बैठा है। अन्तर में अपने ऐसे चैतन्यदेव की आराधना (श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव) मोक्ष का कारण है और बाह्य में अरिहन्तादि पंच परमेष्ठी भगवन्तों की आराधना (पूजा-स्तुति-बहुमान) स्वर्ग का कारण है। पंच परमेष्ठी

कहाँ से हुए ? आत्मा से हुए। उसी प्रकार मेरी आत्मा में भी उनके जैसे गुण भरे हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को पहचानकर उसमें एकाग्रतारूप परमार्थ भक्ति करता है। अरिहन्तादि के गुणों को पहचान कर उसकी भक्ति जैसी सम्यग्दृष्टि करता है, वैसी भक्ति करना अज्ञानी को नहीं आती। गुण की पहचान से जैसा प्रमोद भाव अन्तर में आता है, वैसा प्रमोद गुण की पहचान बिना नहीं आ सकता। गुण की पहचान होने पर जो बहुमान जागृत होता है, वही वास्तविक भक्ति-स्तुति और वन्दना है। मैं किसको भजता हूँ ? किसको वन्दन करता हूँ ? इनकी पहचान भी न करें तो उसको उनका सच्चा फल कहाँ से मिलेगा ? इसलिए श्रावक पंच परमेष्ठी का स्वरूप बराबर पहचान कर उनको भजते हैं। उनको भजने से परमार्थ में अपना शुद्धात्मा ही भजा जाता है।

राग को जो मोक्ष का कारण माने, वह अरिहन्त को नहीं भजता।

‘सिद्ध समान सदा पद मेरो’ अर्थात् राग से परे आनन्दकन्द आत्मा मैं हूँ, शरीर की क्रियाएँ मेरी नहीं, और राग की क्रियाएँ भी मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं। सिद्ध में जितने गुण हैं, उतने मुझमें भी हैं—ऐसी दृष्टि और ऐसा अनुभव धर्मी श्रावक के होता है। उसको ‘मोक्ष की भक्ति’ कहते हैं। शुभराग तो पराश्रित भाव हैं, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? राग से परे आत्मा का स्वाधीन भाव ही मोक्ष का कारण है। अरे, अरिहन्त के प्रति राग को जो मोक्ष का कारण माने, उसने अरिहन्त को पहचाना नहीं, अरिहन्त के मार्ग में वह नहीं आया और अरिहन्त की सच्ची भक्ति करना, उसे नहीं आता। अहा ! अरिहन्त तो वीतराग है, उनकी पहचान भी वीतराग

भाव से ही होती है। वीतराग अरिहन्त देव को जो पहचानता है, वह जीव राग को मोक्ष का साधन नहीं मानता। राग से धर्म या मोक्ष होना मानना, वह तो अरिहन्त देव के मार्ग से विपरीतता है। ज्ञानस्वभाव की अनुभूति ही वीतराग अरिहन्तों का मार्ग है। वही सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति है और वही मोक्ष का कारण है। अहो! ऐसा मार्ग आज भी जयवन्त वर्त रहा है, जगत में तीन काल में वह जयवन्त है। अहो! ऐसे मार्ग का जो बहुमान करता है, वह भाग्यशाली है। सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी ऐसे मार्ग का आदर करते हैं और उसके बहुमान आने से भक्ति से नाच उठते हैं।

तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का कारण सम्यक्त्व नहीं, बन्ध का कारण तो राग भाव हैं; राग नहीं, वहाँ बन्धन नहीं

तीर्थकर प्रकृति सम्यग्दृष्टि को ही बाँधती है, यह नियम है किन्तु वहाँ उस प्रकृति के बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन नहीं है; बन्ध का कारण तो राग है। सम्यग्दर्शन यदि स्वयं ही बन्ध का कारण तो समस्त सम्यग्दृष्टियों को उसका बन्धन हो। परन्तु दर्शनविशुद्धि भावना आदि सम्बन्धित विशिष्ट राग जो सम्यग्दृष्टि जीवों के आते हैं, वे ही उस प्रकृति को बाँधते हैं, सभी सम्यग्दृष्टियों को तीर्थकर प्रकृति नहीं बाँधती।

मोक्षमार्ग में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, वह राग हीन है और वह मोक्ष का ही कारण होता है, बन्ध का कारण नहीं होता। समस्त बन्ध भावों से भिन्न ऐसी ज्ञानचेतनारूप में परिणमन करनेवाली कोई भी बन्ध भाव की भावना ज्ञानी के नहीं होती। सम्यग्दृष्टि के तीर्थकर प्रकृति बाँधे तो भी उस प्रकृति का वह शुभराग अरिहन्त पद

का या केवलज्ञान का कारण नहीं, किन्तु उसके भीतर जो राग से भिन्न चैतन्य का दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, वही अरिहन्त पद का या केवलज्ञान का कारण होता है। तीर्थकर प्रकृति बाँधने में हेतु राग भाव भी जब छूट जाएगा, तब वीतराग होकर अरिहन्त होगा, अर्थात् तीर्थकर प्रकृति को बाँधनेवाला जो बन्ध भाव है, वह केवलज्ञान को रोकनेवाला है। वैसा बन्ध भाव आठवें गुणस्थान तक होता है। उसके पश्चात् वह बन्ध भाव नहीं रहता। जहाँ तक राग है, वहाँ तक ही बन्धन है। राग के अभाव में ईर्यापथ-आश्रय भले ही कदाचित् हो जाए किन्तु वहाँ बन्धन नहीं होता।

**जैनमार्ग में बन्धभाव और मोक्षभाव की अत्यन्त भिन्नता!
वाह! धन्य मार्ग!!**

अहो! रत्नत्रयरूप मोक्षभाव और रागादि बन्धभाव, दोनों का कार्य कितना स्पष्ट, भिन्न-भिन्न है। हे भाई! बन्धभाव और मोक्षभाव को तू सर्वथा भिन्न जान। दोनों की जाति बिल्कुल भिन्न-भिन्न है, दोनों का फल भी भिन्न-भिन्न है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव तो गुण है। जीव का गुण कभी बन्ध का कारण नहीं होता, बन्ध का कारण तो दोष ही होता है। रागादि अशुद्ध भाव दोष है और वह ही बन्ध का कारण है। अरे! गुण-दोष को भी जो भिन्न न जाने, उसको सच्चा भेदज्ञान कहाँ से होगा? और भेदज्ञान के बिना दोष को छोड़कर गुण को वह किस भाँति साधेगा? सम्यग्दर्शन भी तभी हुआ, जबकि समस्त रागादि उदय भावों से चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा को स्वयं अनुभव में लिया और उसकी श्रद्धा की और तभी जीव का मोक्षमार्ग खुला। अहो! अनन्त तीर्थकरों के द्वारा स्वीकृत

और उपदेशित यह मार्ग है। इन्द्रों-गणधरों-चक्रवर्तियों से लेकर छोटे से सम्यग्दृष्टि मेंढक आदि भी इस मार्ग का आदर करके मोक्षमार्ग में चलते हैं। वाह! धन्य मार्ग!

अहो! मोक्ष को साधनेवाली चेतना की अद्भुत गम्भीर महिमा है, किन्तु लोगों को तीर्थकर प्रकृति की महिमा लगती है। भाई! यह प्रकृति तो जड़ है, अचेतन है और जिस भाव से वह प्रकृति बँधती है, वह भाव भी रागभाव है, उदय भाव है-इसकी महिमा क्या? यह कोई चेतन का स्वभाव-भाव नहीं है, इसलिए धर्मभाव नहीं है।

तथापि, उस तीर्थकर प्रकृति के उदय होने पर अरिहन्त की दिव्यध्वनि होती है, उसके आश्रय से भी अन्य किन्हीं जीवों को धर्म का लाभ नहीं होता, वे जीव भी जब वाणी से भिन्न आत्मा का लक्ष्य करके स्वसन्मुख होंगे तभी, उनको धर्म का लाभ होगा और तभी दिव्यध्वनि उनके धर्म का निमित्त कहलायेगी। दिव्यध्वनि का ही लक्ष्य करता रहे और स्वसन्मुख नहीं हो, उसको तो राग का निमित्त है, उसके लिये वह धर्म का निमित्त भी नहीं। दिव्यध्वनि क्या कहती है, यह उसने समझा नहीं। उपादान स्वयं धर्मरूप न परिणमे तो निमित्त किसका?

अरिहन्त की सच्ची पहिचान और स्तुति कब होती है?

अरिहन्त भगवान तो मन-वाणी से परे अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दरूप हुए हैं और उनके द्वारा ही अरिहन्त की सच्ची पहिचान होती है। दिव्यध्वनि के द्वारा या समवसरण के द्वारा कभी अरिहन्त भगवान का आत्मा पहचाना नहीं जाता। ज्ञान के अनुभव के द्वारा ही अरिहन्त के आत्मा की सच्ची पहिचान होती है। यह बात समयसार

कलश २७ तथा गाथा २६ से ३१ में आचार्यदेव ने बहुत स्पष्ट समझायी है। वहाँ कहते हैं कि 'हे भगवान! आप दिव्यध्वनि वाले हो, आप दिव्य शरीर वाले हो'—ऐसे देह के गुणों के द्वारा स्तवन करना, यह अरिहन्त का वास्तविक स्तवन नहीं है, क्योंकि वे आत्मा के गुण नहीं हैं; आत्मा के गुण के स्तवन से ही आत्मा का सच्चा स्तवन होता है।

'जो केवली के गुण का स्तवन करता है, वह परमार्थ केवली का स्तवन करता है।'

और आत्मा के गुणों को पहिचाना जाए तो राग से भिन्न ज्ञान-स्वभाव का अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

जो जानता अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से।

वह जीव जाने आत्मा को दृग्मोह उसका नाश हो ॥८०॥

— प्रवचनसार

इस भाँति ज्ञानस्वभाव का अनुभव ही सर्वज्ञ परमात्मा की सच्ची स्तुति है। अतएव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही परमार्थ स्तुति है।

इस प्रकार अरिहन्त आदि पंच परमेष्ठी, देव-गुरु को पहचान कर धर्मी श्रावक उनकी पूजा करता है। अब शास्त्र पूजा की बात करते हैं।

परमागम की पूजा करने की सच्ची रीति

जैसे वीतरागी देव-गुरु पूज्य हैं, वैसे ही उनके उपदेशरूप जिनवाणी परमागम भी पूज्य है। उसकी पूजा किस प्रकार करना चाहिए? तो कहते हैं कि शास्त्र का भाव जानने से उसकी सच्ची पूजा होती है, उसी प्रकार एकाग्रचित्त से बहुमान से शास्त्र का

स्वाध्याय करके उसमें कथित शुद्धात्मतत्त्व आदि भावों को समझना वास्तविक शास्त्रपूजा है। पंच परमेष्ठी भगवन्तों की भाँति जिनवाणी-जिन मन्दिर और जिनधर्म आदि भी पूज्य गिने जाते हैं, व्यवहार में वे पूज्य हैं परन्तु अन्तर में आत्मा का अनुभवरूप परमार्थ-देव पूजा है। शास्त्र का रहस्यभूत शुद्धात्मा भावश्रुत के द्वारा अनुभव में लेना परमार्थ भावश्रुत पूजा है। ऐसी दोनों प्रकार की पूजा धर्मी श्रावक की होती है, वह श्रावक का आचार है।

श्री तारणस्वामी कहते हैं:—

न्यानं गुनं च चत्वारि, श्रुतं पूजा सदा बुधे।

धर्म ध्यानं च संजुक्तं, श्रुतं पूजा विधीयते ॥३४६ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार प्रकार के अनुयोग वीतरागी जिनश्रुत में हैं, वे चारों अनुयोगरूप श्रुत सम्यग्ज्ञान में निमित्त हैं, उनका यथार्थ भाव समझकर शुद्धात्मा का अनुभवरूप धर्मध्यान प्रगट करना भावश्रुत की आराधना या श्रुत पूजा है। ऐसी श्रुत पूजा बुध जनों को सदा करने योग्य है। श्रावक चारों अनुयोग के रहस्य को जानता है। आत्मा के स्वसंवेदन भावश्रुत में समस्त जिनवाणी का रहस्य समा जाता है। जिसने शुद्धात्मा जाना, उसने समस्त जिन शासन जान लिया—यह अलौकिक बात समयसार की १५वीं गाथा में आचार्यदेव ने समझायी है। भावश्रुत के द्वारा ही जिनवाणी की वास्तविक उपासना होती है। जिनवाणी के रहस्य को जाने बिना उसकी सच्ची उपासना कहाँ से हो? जिस प्रकार सम्यक्त्वादि भावलिंग बिना, अकेले दिगम्बर लिंग से

कोई लाभ नहीं होता; उसी प्रकार अन्तर के अनुभवरूप भावश्रुत के बिना अकेले द्रव्यश्रुत के शब्द पढ़ने से सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं होता; इसलिए अन्तर में भावश्रुत प्रगट करना निश्चय श्रुत पूजा है, वही अन्तरंग पूजा है, वही गुरु पूजा है और शुभ विकल्प के द्वारा बाहर में देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान व्यवहार पूजा है। जिस प्रकार जिनवचनरूप द्रव्यश्रुत में श्रुतज्ञान की स्थापना का निक्षेप है, उसी प्रकार अरिहन्त देव की स्थापना का निक्षेप है, ऐसे निक्षेप का सही ज्ञान धर्मी के ही होता है, जो भाव निक्षेप को भूलकर अकेले स्थापना निक्षेप को ही भाव निक्षेप मान लेता है तो वह भूल है, उसने तो अजीव को जीव मान लिया। भाई! स्थापना तो स्थापना के तौर पर है, किन्तु भाव तो पृथक् है, उसको समझना चाहिए। प्रतिभा और पुस्तक तो परमाणुओं की पर्याय है और अरिहन्त तथा भावश्रुतज्ञान तो जीव की पर्यायें हैं। जीव को ज्ञानपर्याय किसी अजीव में नहीं आ जाती, उसमें तो ज्ञानबल से मात्र स्थापना है। जीव-अजीव का भिन्न-भिन्न स्वरूप जैसा है, वैसा ही धर्मी जीव को बराबर जानना चाहिए। भाव निक्षेप से केवलज्ञानरूप हुआ परमात्मा अरिहन्त है और श्रुतज्ञानरूप में परिणमित जीव श्रुतज्ञान है, उनका स्वरूप धर्मी जानता है।

जैसा सोना या हीरा तौलने का काँटा सूक्ष्म होता है, वैसा यहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान के काँटे के द्वारा आत्मा क्या है? और राग क्या है? दोनों की तौल करने की बात है। सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार परम सूक्ष्म सम्यग्ज्ञान से राग और ज्ञान की तथा चेतन और अचेतन की अत्यन्त भिन्नता जानना चाहिए। ऐसा भेदज्ञान करना ही जिनदेव की और जिनवाणी की सच्ची पूजा है।

श्री तारणस्वामी की अध्यात्म शैली

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने 'बोध प्राभृत' में निश्चय-व्यवहार दोनों को लक्ष्य में रखकर जिन चैत्य आदि ११ बोल अध्यात्म शैली से निश्चय में उतारे हैं ' और वहाँ भावलिङ्गी मुनि जिन चैत्य आदि हैं, ऐसा बताया है। ऐसे भावपूर्वक बाह्य में स्थापना निक्षेप का व्यवहार है परन्तु अन्तर के भाव बिना अकेले बाहर के व्यवहार में लगा रहे तो सम्यग्दर्शनादि का लाभ नहीं होगा। लोग अकेले बाह्य में न अटके रहें और अन्तर स्वभाव में दृष्टि करें, इस हेतु श्री तारणस्वामीजी ने भी अध्यात्म शैली से सभी कथन किया है।

पर से भिन्न निज स्वरूप की आराधना चारों अनुयोगों का सार है। गाथा ३५७ में श्री तारणस्वामी कहते हैं :—

दिव्यं द्रव्यदृष्टी च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।

नंतानंद चतुष्टं च, केवलं पद्मं ध्रुवं ॥

—तारण तरण श्रावकाचार

अपने शुद्धात्मा को देखनेवाली दिव्य दृष्टि अपूर्व है, शोभनीक है और शास्त्र पद को आनन्द से देखनेवाली है। श्रुतज्ञान के साररूप द्रव्यदृष्टि, जीव को संसार भ्रमण से छुड़ानेवाली है और मोक्ष प्राप्त करानेवाली है। अतः श्रुतज्ञान के अभ्यास के द्वारा ऐसे सम्यग्दर्शन का उद्यम करो—ऐसा उपदेश है।

अहो! अध्यात्म की भावना में मस्त सन्तों ने बारम्बार अध्यात्म रस घोंटा है और मुमुक्षुओं को उसका पान कराया है। श्री तारणस्वामी अध्यात्म के रसिक थे, उन्होंने अधिकतम बातें अध्यात्म शैली में

उतारी हैं। आत्मा के अनुभव में बारम्बार दृष्टि लगाना आत्मार्थी जीवों की खुराग है। स्व-विषय के अत्यन्त प्रेम से बारम्बार उसका अभ्यास करने से आत्मा का अनुभव होता है और उसके लिये ही सन्तों का उपदेश है।

मोक्षपंथी श्रावक अपने आत्मा को कैसा देखता है

अपने आत्मा को जिन सदृश भावना, परमार्थ जिन पूजा इत्यादि शुद्ध षट्कर्म बताकर श्री तारण स्वामी कहते हैं—

ये षट् कर्म सुद्धं च, जे सार्धति सदा बुधैः ।

मुक्ति मार्गं ध्रुवं सुद्धं, धर्मध्यान रतो सदा ॥३७५ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

ऐसे शुद्धभावरूप षट् कर्म को जो साधता है, वह मोक्षमार्ग में चलता है। व्रत रहित श्रावक को भी सदैव देव-पूजा आदि षट्कर्म का आराधना करना चाहिए, वह व्रत रहित श्रावक भी संसार मार्ग में छूटकर मोक्ष का मार्ग में चलनेवाला है—इसमें कोई सन्देह नहीं। बुधजन सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान-चारित्र को आराधते हैं।

श्री तारणस्वामी कहते हैं—

दर्शनं जस्य हृदयं सार्धं, दोष तस्य न पस्यते ।

विनासं सकलं जानंते, स्वप्नं तस्य न दिस्यते ॥३९२ ॥

— तारण तरण श्रावकाचार

जिसके हृदय में शुद्ध सम्यक्त्व है, वह अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूप में देखता है, उसमें कोई दोष नहीं देखता। उपयोगस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य को किंचित् स्वप्न में भी अपना नहीं भासता।

मारो सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव छे,
बाकी बंधा संयोग लक्षण भाव भुज थी बाह्य छे ॥(गुज०)

ऐसी दृष्टि और अनुभव श्रावक को सदैव होता है। जिसको राग से भिन्न आत्मा का मान नहीं, दृष्टि में शुद्ध आत्मा आया नहीं, वह दान, शास्त्र-पठन आदि शुभ क्रियाएँ क्यों करेगा? संसार देगा, मोक्ष तो देगा नहीं। मोक्ष के लिये यह सब वृथा है—यह बात श्री तारणस्वामी ने बतायी है:—

अनेय पाठ पठनं च, अनेय क्रिया संजुतं।

दर्सन सुधि न जानंते, त्रिथा दान अनेकधा ॥३९९॥

— तारण तरण श्रावकाचार

उसके पश्चात् कछुआ और मछली का दृष्टान्त देकर बताया है:—

दर्सनं जस्य हृदयं दिस्टा, सुयं न्यानं उत्पादंते।

कमठी दिस्टि जथा डिंभं, सुयं त्रिधंति जं बुधैः ॥४००॥

दर्सनं जस्य ह्रिदं श्रुतं, सुयं न्यानं च संभवे।

मच्छिका अंड जथा रेतं, सुं त्रिधन्ति जं बुधैः ॥४०१॥

— तारण तरण श्रावकाचार

धर्मात्मा की दृष्टि की सदैव शुद्धात्मा के ऊपर होने से उसका ज्ञान भी बढ़ता ही जाता है। बाहर के शास्त्र पढ़े बिना ही चैतन्य दृष्टि के द्वारा अन्तर की शुद्धि से ही धर्मात्मा का ज्ञान खिलता जाता है और ज्ञान परिणति बढ़ते-बढ़ते बारह अंग तथा केवलज्ञान खिल जाता है और जिसको शुद्ध दृष्टि नहीं, वह जीव व्रत, संयम या शास्त्र पाठ करते हुए भी संसार में ही भ्रमता है। अतः शुद्धात्मा को

जानकर शुद्ध दृष्टि करना श्रावक का कर्तव्य है। दर्शनशुद्धिसहित पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान-चारित्र की वृद्धि होकर केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है एवं परमानन्द प्राप्त होता है।

परम आनन्द को प्राप्त करो

इस श्रावकाचार के अन्त मंगल में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

परमानंज आनंदं, निज उत्कं सास्वतं पद
एकोदेस उवदेसं च, जिन तारण मुक्ति पथं श्रुतं ॥४६२॥

अहो! जिनोक्त शाश्वत पद परम आनन्द से भरपूर है, ऐसे एक देश जिनधर्म का अर्थात् श्रावकधर्म का यह उपदेश है, उसमें जिन भगवान का तारण पंथ, तिरने का पंथ अर्थात् मोक्षमार्ग बताया है और जिनमार्ग का श्रुत है। ऐसे सम्यक्त्व प्रधान, भव से तिरने के पंथ की आनन्द से उपासना करते हुए परम आनन्दरूप शाश्वत् मोक्ष पद प्राप्त होता है। जिन शासन के प्रताप से ऐसे परम आनन्द को हे भव्य जीव! तुम प्राप्त करो।

ऐसे मंगलमय आशीर्वाद पूर्वक अष्ट प्रवचन समाप्त होता है।

गुरु उपदेश सो पायके अष्ट प्रवचन आज।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान है तारण तरण जहाज ॥
अष्ट प्रवचन कहान के दर्शावे भगवान।
भक्त-हरि वो झेलके करो आत्म रस पान ॥

इति तृतीय-अष्ट प्रवचन समाप्त
(वीर निर्वाण सं० २५०० फाल्गुन शुक्ल १३)